हिन्दी-गीति-काव्य

श्री ओम् प्रकाश अग्रवाल, एम० ए०

हिन्दी-गीति-काव्य

लेखक

श्री ओम् प्रकाश अग्रवाल, एम० ए०

प्रकाशक

साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

२००२

पूज्य गुरुवर,
डा० धीरेन्द्र जी वर्मा
को सादर भेंट।

प्रकाशकीय

गीति-काव्य हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। संतों तथा भक्तों के भावपूर्ण मधुर तथा व्यंजनापूर्ण पद किसी भी साहित्य को गौरवयुक्त कर सकते हैं। आधुनिक काल में भी गीतों की प्रचुरता है, किन्तु उनके भाव तथा व्यंजना शैली भिन्न हैं। हिन्दी साहित्य के इतने महत्त्वशाली अंग पर स्वतंत्र पुस्तकें प्रायः नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उस कमी की पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है। श्री ओम् प्रकाश अग्रवाल यद्यपि नये लेखक हैं तथापि उनकी शैली रोचक है। गीतिकाव्य तथा कवियों का परिचय निष्पक्ष है और सहानुभूति पूर्ण है।

साहित्य भवन लि०
प्रयाग

पुरुषोत्तमदास टंडन
मंत्री

मेरे शब्द

प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा मुझे श्री सत्याचरण जी से परोक्ष-रूप में मिली थी। वही प्रेरणा पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा राम कुमार वर्मा से प्रोत्साहन पाकर सजीव हो उठी। अतएव यह उन्हीं की प्रेरणा, प्रोत्साहन और प्रथ-प्रदर्शन का फल है।

गीति-काव्य की विभिन्न सत्ता पाश्चात्य साहित्य की देन है। हमारे साहित्य में काव्य और गीति-काव्य में कोई भेद न था किन्तु हिन्दी साहित्य में हमें इसके दर्शन आरम्भ ही से होने लगते हैं। इधर आकर तो इनमें भाव, संगीत तथा स्वभाव की दृष्टि से विशेष अन्तर हो गया है। अतएव हमारा आकर्षण उसे प्राप्त होने लगता है और हम उसे काव्य का एक विभिन्न स्वरूप मानने लगे हैं।

हिन्दी गीति-काव्य पर स्वतंत्र रूप से सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है। इसमें यथा सम्भव आलोचनात्मक दृष्टिकोण से ही हिन्दी गीति-काव्य की रूप-रेखा प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इसके निर्माण में प्रायः सभी प्रमुख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं से, आलोचनात्मक ग्रन्थों से और हिन्दी साहित्य के इति-हास-ग्रन्थों से सहायता ली गई है। विद्यापति तथा गोविन्दास के पद-चयन और आलोचनात्मक विवेचन के लिए मुझे म० म० डा० उमेश जी मिश्र से विशेष सहायता मिली है, अतएव मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मेरे कुछ मित्रों ने पुस्तक के प्रस्तुत करने में मुझे बड़ी सहायता दी है। वे सब मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं उन सब कवियों को भी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिनकी परम-पावन काव्य-मन्दाकिनी का यह प्रयास एक लघु-स्रोत है। मुझे आशा है कि विज्ञ पाठकों के हाथ में जाकर मेरे लिए यह सन्तोषप्रद सिद्ध होगा।

बढ़ापुर (बिजनौर)
वसन्त पंचमी विक्रमी २००१

ओम् प्रकाश अग्रवाल

विषय सूची

पृष्ठ

(१) विषय प्रवेश १—८७

(१) गीति-काव्य की विशेषताएँ ... १—१०

(२) गीति-काव्य और संगीत ... १०—२०

(३) गीति-काव्य का विकास ... २०—८१

(४) प्राचीन और नवीन हिन्दी गीति-काव्य का तुलनात्मक सारांश— ... ८१—८७

(२) हिन्दी गीति काव्य ८७—२१८

(१) विद्यापति ठाकुर ... ८७—९२

(२) गोबिन्ददास ... ९२—९४

(३) कबीरदास ... ९४—९९

(४) मीरांबाई ... ९९—१०५

(५) सूरदास ... १०५—११३

(६) तुलसीदास ... ११३—११९

(७) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ... १२०—१२४

(८) सत्य नारायण ... १२४—१२८

(९) श्रीधर पाठक ... १२८—१३४

(१०) मैथिलीशरण गुप्त ... १३४—१४४

(११) जयशंकर 'प्रसाद' ... १४४—१५४

(१२) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ... १५४—१६३

(१३) सुमित्रानन्दन पंत ... १६३—१७३

(१४) महादेवी वर्मा ... १७३—१८४

(१५) रामकुमार वर्मा ... १८४—१९२

(१६) भगवती चरण वर्मा ... १६२—२०२
(१७) हरिवंशराय 'बच्चन' ... २०२—२१३
(१८) नरेन्द्र शर्मा ... २१३—२१८
(१९) सोहनलाल द्विवेदी ... २१९—२२४
(२०) आरसीप्रसाद सिंह ... २२५—२३०
(२१) सुधीन्द्र जी ... २३१—२३६
(२२) गोपालसिंह नेपाली ... २३७—२४४
(२३) रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ... २४५—२५२

विषय प्रवेश

गीति-काव्य की विशेषताएँ

अनुभूति के लिए मानव को हृदय मिला है और विचार के लिए मस्तिष्क। हृदय और मस्तिष्क इन्हीं दोनों के संयोग को सचेतन पुरुष कहते हैं। हृदय से वह राग-विराग, सुख-दुख, आशा-निराशा, संयोग-वियोग आदि मनोवृत्तियों की अनुभूति करता है और इन मनोवृत्तियों की प्रतिक्रिया के परिणाम में सदासद् कर्त्तव्य का निर्णय करता है। मस्तिष्क द्वारा/हृदय से वह सुकुमार, सहृदय, भावुक और सहानुभूतिशील होता है; मस्तिष्क से विचारशील, बुद्धिमान और दूरदर्शी। हृदय और मस्तिष्क दोनों सनातन हैं।

इसी प्रकार काव्य में भी दो धाराएँ होती हैं—विचारात्मक और भावात्मक। विचारात्मक धारा का सम्बन्ध है मस्तिष्क से और भावात्मक धारा का हृदय से। विचार-पूर्ण काव्य की आनन्द-प्राप्ति के लिए बुद्धि को कुछ परिश्रम करना पड़ता है, जिससे काव्य-जनित भाव स्पष्ट हो जाता है और आनन्द की अनुभूति होने लगती है। किन्तु भावात्मक काव्य में हृदय-पक्ष प्रधान होता है। भाव हृदय से उठता है और उसी में लय हो जाता है जिससे आनन्द की अनुभूति अनायास ही होने लगती है और हृदय रस से भर जाता है। गीत की सृष्टि इसी रस के प्रसार में होती है और उसका उद्देश्य भी इसी रस अथवा आनन्दातिरेक की धारा प्रवाहित करना होता है। वह भाव जाग्रत करता है, विचार नहीं। अतएव गीत का सरल सम्बन्ध हृदय से है। किसी विशेष मनोवृत्ति की अनुभूति में हृदय के अन्तराल से भावों की तीव्र धारा बह निकलती है जिसके मधुर प्रवाह में मानव बेसुध होकर बहने लगता है। इसी प्रवाह में उसे दिव्य राग सुनाई पड़ता है जिसके सहारे उसकी कल्पना जाग्रत होती है। तब उसके भाव, राग और कल्पना भाषा पाकर साकार हो जाते हैं। शब्द और राग के समन्वय से उसके गीतों में प्राण की शक्ति समा जाती है। वे उसके अन्तःकरण को भावमय संगीत द्वारा विश्व भर

में उन्मुक्त कर देते हैं। उसका भावात्मक अन्तर्जगत खुलकर सामने आ जाता है। इसी कारण हम गीत में अन्तर्जगत की भावात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं जिसमें संगीत प्राण की भान्ति विद्यमान रहता है।

वास्तव में काव्य का सर्वश्रेष्ठ, शुद्धतम और सत्य स्वरूप गीत ही होता है। क्योंकि उसमें भावावेष और अन्तर्जगत् की चरम अभिव्यक्ति करने की अपार क्षमता होती है। गीत आत्माभिव्यक्ति का अनन्त सागर होता है। यही कारण है कि श्रेष्ठ काव्य में गीति-काव्य के गुण वर्तमान रहते हैं, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो। 'मानस' के दोहे और चौपाई तथा रसखान के सवैयों का बड़े मनोयोग से गान होता है, यद्यपि वे शुद्धतम गीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं आते।

हीगल का मत है कि कवि संसार के अन्तःकरण में पहुँचकर आत्मानुभूति करता है, तब उसे अपनी चित्त-वृत्ति (Mood) के अनुसार काव्योचित भाषा में व्यक्त करता है। अतएव गीति-काव्य काव्य के अन्य अंगों से आत्माभिव्यक्ति भाव और कल्पना के कारण विभिन्न हो गया है। उनका कहना है कि गीत रचने की एक विशेष चित्त-वृत्ति (Lyric mood) होती है। इच्छा, विचार और भाव उसके आधार होते हैं। भाव की उत्पत्ति के लिए वाह्यपदार्थों का मन में विनर्गमन होता है। जब कवि शान्त और समन्वित चित्त-वृत्ति में होता है तब कल्पना में वाह्यजगत प्रधान हो जाता है। जिससे भाव की उत्पत्ति होती रहती है। इसी से गीत की सृष्टि होती है।

अर्नेस्ट राईस के अनुसार सच्चा गीत वही है जो भाव या भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो। जो शब्द और लय के सामंजस्य से सूच्य भाव को पूर्णतया प्रदर्शित करता हो और पद-लालित्य तथा शब्द माधुर्य से उस संगीतमयी ध्वनि में निकलता हो, जिसे स्वाभाविक भावात्मक अभिव्यक्ति कह सकते हैं। उसमें शब्द सरल, कोमल और नादपूर्ण हों। गति का उसमें प्रवाह हो, प्रधान अनुभूति का सुन्दर आरोह-अवरोह हो, माधुर्य-युक्त हो, प्रसाद पूर्ण हो, स्पष्ट हो और संगीतमय हो।

गीत में गति और माधुर्य की सुकुमारता होती है और यह कवि की

चित्त-वृत्ति पर निर्भर होती है जिससे 'अन्तरंग-राग' की सुमधुर अभिव्यक्ति होती है।

अंगरेज़ी के एक प्रमुख समालोचक हरबर्ट रीड का कहना है कि गीत का मूल अर्थ अब लुप्त हो गया है और अब वह केवल भावात्मक ही हो गया है। संसार उन कविताओं को गीत मानने लगा है जिनमें सूक्ष्म अनुभूति हो अथवा इन सूक्ष्म-अनुभूतियों की उन प्रति-क्रियाओं को जो एकान्त आनन्द से जाग्रत होती हैं। गीति-काव्य का कवि निश्चय ही संसार की सजगता एवं जागृति से ही अपने भाव पाता है। संसार की रमणियों में, पुष्पों में, वातावरण के रङ्गीन वैभव में और उसकी सुकुमारता में ही कवि के भाव जाग्रत होते हैं। इन भावात्मक चेतनाओं के अनायास प्रवाह में गीति-काव्य की धारा बह निकलती है।

भारतीय साहित्य में गीति काव्य का कोई विभिन्न भाग नहीं रहा है। स्वयं काव्य ही गेय होता था, अतएव वही काव्य जो गेय हो गीत कहलाता था। और उसे हिन्दी में 'पद' संज्ञा दी थी। हाँ, गीति-काव्य की स्वतंत्र सत्ता ग्रीक-साहित्य में अवश्य मिलती है। अंगरेज़ी में गीत को लिरिक (lyric) कहते हैं। और उससे साधारणतया उस गीत का निर्देश होता था जो लायर पर गाया जाता हो। लायर वीणा की भान्ति एक बाजा होता था उसी के नाम पर इस प्रकार के काव्य को लिरिक कहने लगे। किन्तु कालांतर में इसका यह मूल अर्थ लुप्त हो गया। इस बाजे के साथ गाए जाने की भावना मिट गई और गेय होने का तात्पर्य केवल इतना ही रह गया कि उसमें शब्द-माधुर्य और लय हो। कुछ समय पश्चात् उसमें आत्माभिव्यक्ति का गुण भी सम्मिलित हो गया और धीरे-धीरे वह अन्तर्जगत पर ही केन्द्रित होता चला गया। जैसा कि उपर्युक्त मतों से स्पष्ट है, उसका मुख्य गुण भावावेश ही रह गया, यद्यपि शब्द माधुर्य, लय और भावों की सत्य अभिव्यक्ति का उससे सामञ्जस्य रहा।

हिन्दी का प्राचीन और मध्यकालीन काव्य प्रायः गेय ही रहा है। संगीतमय भावात्मक आत्माभिव्यक्ति हमें पद-साहित्य में सबसे अधिक मिलती

है। किन्तु उत्तरोत्तर काव्य के दो विभिन्न—गेय और अगेय भाग होते चले गए। रीति-काल में गेय काव्य को लक्षण-काव्यों की अधिकता के कारण कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिला। आधुनिक काव्य में संगीत के प्रवाह के साथ अन्त-र्जगत और प्रकृति के अन्तःकरण का भी अपूर्व सामंजस्य हुआ है। जिससे गीति-काव्य की यथेष्ट उन्नति हुई है। यहाँ तक कि प्रबन्ध-काव्यों में भी सुन्दर गीत रचे गए हैं।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार गीति-काव्य में भावावेश के साथ-साथ संगीत अथवा स्वर की साधना को भी प्रमुख माना है। वास्तव में उसकी रचना ही संगीत के उच्च आदर्श पर होती थी। कबीर के कुछ रहस्यवादी सैद्धान्तिक पदों में भी संगीत का यथेष्ट समावेश पाते हैं। तुलसी के विनय-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त दार्शनिक-विचारों से पूर्ण कुछ पदों में भी संगीत की कला का उच्च प्रकाश है। सूर और मीरा तो संगीत के अवतार ही माने जाते हैं। संगीत में उनका आदर्श आज भी माना जाता है। अपने अनुभवों और उद्गारों की सजीव काव्यमय भाव-भाषा में व्यक्त करने के साथ उनमें संगीत की अपार मर्यादा थी। यही कारण है कि इसका पालन सार्वलौकिक गीतों में मिलता है। आधुनिक गीति-काव्य भी उसके लिए कोई अपवाद नहीं। प्रसाद, पंत और निराला जी के गीतों में संगीत का ही आधार भाव-भाषा को मिला है।

'गीति-काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य-जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यंजन-सम्बन्धी कविता गीति-काव्य में ही छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावनापन्न, आत्म-निवेदन से युक्त स्वाभाविक भी जान पड़ती है। उसमें शब्द की साधना के साथ साथ स्वर (संगीत) की भी साधना होती है। भावना सुकोमल होती है और एक-एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। कवि उसमें अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया दृष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति

कर देता है ।'[1]

श्रीमती महादेवी वर्मा गीति-काव्य की व्याख्या में कहती हैं कि 'सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। × × × गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।' इसमें ध्यान देने योग्य है—गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना,—अर्थात् भावों की तीव्र से तीव्र अभिव्यक्ति के लिए शब्द कम से कम हों और सुचयनित हों, तथा संगीत-ध्वनि से युक्त हों। यानि गीत संक्षिप्त हों और संगीतमय हो। वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित करने के कारण उसमें आत्माभिव्यक्ति का गुण आता है जो प्रभाव में तीव्र और स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त विवरण से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि गीति-काव्य के मुख्यकर दो स्वरूप होते हैं। प्रथम में भाव, विचार, इच्छा, कल्पना, उद्गार और अन्तर्जगत का चित्रण होता है। उसमें वस्तु-तत्त्व की प्रधानता होती है। दूसरे पक्ष में भाव-भाषा का सामंजस्य छन्द, सरलता, सुकुमारता, संगीत, भाषा-शैली और संक्षिप्तता आते हैं। प्रथम स्वरूप को गीति-काव्य का अन्तरंग और द्वितीय स्वरूप को बहिरंग कहना उचित होगा।

जैसा कि पहले कह चुके हैं गीति-काव्य का सम्बन्ध हृदय से है। अतएव उसका अन्तरङ्ग अथवा वस्तु-तत्त्व हृदय के अनुरूप ही बहुत सुकोमल, तरल और भावना-पूर्ण होना चाहिए। मस्तिष्क की ऊहा-पोही और दार्शनिक विचारों की गहनता या सैद्धान्तिक निरूपण के लिए उसमें कम ही स्थान है। वरन् इनसे गीति-काव्य का बहिरङ्ग भी नष्ट हो जाता है। उदाहरण में कबीर और तुलसी के कुछ दार्शनिक पद रख सकते हैं। वस्तु-तत्त्व की अपेक्षा गीति-काव्य में बहिरङ्ग अधिक आवश्यक होता है। क्योंकि भावना के सुकुमार होने के साथ साथ भाषा सरल, सुमधुर और व्यंजक होनी चाहिए।

---

[1] बा० श्यामसुन्दरदास।

गीति-काव्य का प्रकरण सुन्दर हो, मनोहर हो और संक्षिप्त हो साथ ही प्रभावोत्पादक भी हो। उसमें रूप और ध्वनि का सौन्दर्य हो। क्योंकि रूप और ध्वनि में भाव घुल-मिलकर तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, जिससे गीत अपने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों स्वरूपों में समतुल्य जान पड़ता है। तभी उसका प्रभाव सबसे अधिक होता है। वस्तु-तत्त्व में भाव का प्राधान्य हो जिससे कवि और पाठक दोनों के हृदय में लयकारी संगीत के द्वारा सामंजस्य स्थापित हो जावे। भाव के अनुरूप ही भाषा भी सरल, सुकुमार और स्पष्ट होनी चाहिए। उसमें कल्पना नवीन और उन्मुक्त हो। भावों की अभिव्यक्ति तीव्रतम होनी चाहिए जिससे उसका प्रभाव अधिक से अधिक पड़े। भाव विच्छिन्न और अस्पष्ट न हों।

संगीत के पूर्ण विकास के लिए भाषा का सुकुमार और सलच होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रवाह के लिए शब्दों का चयन सुन्दर हो। भाषा में द्वित्त्व और संयुक्त अक्षरों का कम से कम प्रयोग हो। साथ ही कर्कश अक्षरों का भी यथाशक्ति बहिष्कार हो। मात्राएँ दीर्घ हों जिससे स्वरों का आरोह-अवरोह समुचित रूप से हो सके। सम्पूर्ण पद में एक अन्विति हो। और उसमें भाव एक पर्वतीय झरने की भाँति तीव्र गति में उमड़-उमड़ कर आता हो।

सुकुमार भावना के लिए कोमल रसों का प्रयोग किया जावे। गीति-काव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त रस हैं—शान्त, शृंगार और वात्सल्य। यद्यपि वीर रस में भी गीति-काव्य मिलता है किन्तु उत्साह वर्द्धक होने के कारण उसमें वह सुकुमारता नहीं रहती, पर भावावेश उसमें अधिक रहता है। शृंगार रस में संयोग-शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार गीति-काव्य के अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमें विरह-वियोग की अनुभूति का हृदय पर साक्षात और तीव्र प्रभाव पड़ता है। रौद्र, वीभत्स तथा भयानक आदि कर्कश रसों में गीति-काव्य की रचना नहीं होनी चाहिए क्योंकि उसका प्रकरण घृणित और कुत्सित हो जाता है। उनसे गीत का नाश हो जाता है।

गीति-काव्य में शब्द की साधना के साथ स्वर की साधना भी अनिवार्य है। संगीत में स्वर को ब्रह्म का स्वरूप माना है। इसी प्रकार भाषा में

शब्द को। शब्द में भी प्राण होता है और यह प्राण उसका बल तथा नाद होता है। शब्द-साधना के लिए बड़े मनोयोग की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि उसका सम्बन्ध प्राणों की साधना से ही है। और गीत में शब्द-साधना ही प्रधान गुण है। यही कारण है कि भावों की सरलता की अपेक्षा भी गीत की रचना कठिन होती है।

गीत में प्रवाह मात्र से ही भावना का उदय हो जाना चाहिए। भाव और बुद्धि का उसके प्रवाह में सरल समन्वय हो अर्थात् स्वर के साथ भाव चलते रहने चाहिएँ और भाव के साथ ही अर्थ भी समझ में आता जाना चाहिए—तभी गीत की उत्तमता है।

गीत के संक्षिप्त होने के विषय में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसके माप-दण्ड का कोई नियत प्रमाण नहीं। केवल भावना की पूर्णता-अपूर्णता पर ही वह अवलम्बित रहता है। बहुत से गीतों में केवल एक ही पद होता है। जिसमें मुख्य रूप से एक ही भावना चलती रहती है, किन्तु अधिक लम्बा हो जाता है। कभी कभी एक ही गीत में अनेक पद होते हैं और एक एक भावना एक एक पद में पूर्ण होकर अगले-पिछले पदों से भी प्रधान अनुभूति के कारण सम्बन्धित रहती है। सम्पूर्ण गीत इस प्रधान अनुभूति का चित्र होता है जिसमें अनेक भावनाएँ वर्तमान रहती हैं। ऐसे गीत बच्चन जी की 'मधुबाला' में, भगवतीचरण जी के 'प्रेम संगीत' में स्पष्टतया मिलते हैं। अन्य कवियों में भी इस शैली का बाहुल्य है। छोटे-छोटे पदों में मुक्तक गीतों की रचना का प्रचार अब वृद्धि पा रहा है। उसमें अधिक से अधिक १२-१६ चरण होते हैं जो कभी कभी ३—४ पदों में विभाजित रहते हैं। साथ ही टेक भी चलती रहती है। जैसे 'निशा-निमन्त्रण' 'सान्ध्यगीत' या 'चित्र रेखा' के गीत। गीत को संक्षिप्त होना चाहिए क्योंकि इससे उसका प्रभाव सामूहिक रूप में पड़ता है और सूच्य-शक्ति बढ़ जाती है।

अतएव गीति-काव्य की विशेषताएँ हैं—संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति; अन्तर्जगत का चित्रण; प्रकरण अथवा भावना की सुन्दरता एवं सुकुमारता जिसमें सहज उद्‌गारों का प्रस्फुरण हो; भाषा की सुकुमारता, सरलता और

व्यंजकता; शब्दों का मधुर चयन, भाषा का भावना से सामंजस्य; साक्षात् प्रभाव और संक्षिप्तता।

गीत का छन्द से घनिष्ट सम्बन्ध है। क्योंकि संगीत और लय के लिए नियमित पद की आवश्यकता होती है। छन्द तीन प्रकार के होते हैं—मात्रिक, वर्णिक और मुक्तक। मात्रिक छन्दों की रचना ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं के आधार पर होती है; वर्णिक छन्दों की वर्णों (गणों) के आधार पर और मुक्तक की केवल अक्षर-लय अथवा गति के आधार पर। गीति-काव्य के लिए सब से उपयुक्त हैं—मात्रिक छन्द। मात्रिक छन्दों में दीर्घ-ह्रस्व मात्राओं का आधार होता है और यही संगीत का भी। इसी से उनमें स्वर का समुचित आरोह-अवरोह हो पाता है। उनमें संगीत अपने स्वाभाविक स्वरूप तथा विकास को पा लेता है। व्यंजन प्रधान छन्दों में राग का स्वाभाविक स्फुरण नहीं हो पाता। उसमें स्वर का यथेष्ठ विकास नहीं हो सकता। नियमित मात्रिक छन्द में संगीत की लय बँध जाती है जिससे सम्पूर्ण पद के संगीत में भी मधुर अन्विति आ जाती है। पर इसका मुक्तक छन्द में अभाव रहता है। केवल गाने के आधार पर भाव भाषा को संगीत-मय बनाना पड़ता है। वर्ण-वृत्तों के विषय में पन्त जी कहते हैं, "हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्णावृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की भाँति बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती है, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।"

छन्द और गीत

गीति-काव्य ने अपने विकास में छन्द में बहुत रूपान्तर उपस्थित किया है। पद-शैली के गीतों में छन्द का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनकी रचना राग-रागिनियों के आधार पर होती थी। किन्तु आधुनिक गीति-काव्य में पद-शैली का त्याग हो गया है। प्रायः मात्राओं के आधार पर नियमित पंक्तियाँ बना ली जाती हैं। प्रथम पंक्ति (चरण) टेक का कार्य करती है। और अन्य पंक्तियाँ उतनी ही या उससे अधिक मात्राओं की होती हैं और आपस में सम होती हैं। प्रायः पद तुकान्त ही रहते हैं। कभी कभी एक-दो

छन्दों के चरण मिलाकर भी नवीन छन्द बना लिए जाते हैं। कोई विशेष निर्धारित नियम नहीं है। पिंगल शास्त्र का इतना ही पालन किया जा रहा है कि चरणों में मात्राएँ समान होती हैं और सम्पूर्ण गीत के भिन्न भिन्न पद भी एकसे ही होते हैं। कभी पिंगल शास्त्र के किसी भी छन्द विशेष का प्रयोग नहीं मिलता। केवल लय के आधार पर १२, १४ या १६ आदि मात्राओं के चरण बना लिए जाते हैं। ऐसे छन्दों को कुछ भी नाम नहीं दिया जाता। मुक्तक छन्द का गीति काव्य में अधिक प्रचार नहीं, क्योंकि उसमें संगीत का सुन्दर प्रदर्शन नहीं हो पाता। केवल लय के आधार पर ही संगीत का प्रसार पूर्णतया नहीं हो सकता।

अन्तरङ्ग दृष्टि से भारतीय गीतिकाव्य और विशेषकर हिन्दी गीति-काव्य दो प्रकार का है। कवि अपने अध्यात्मिक विकास के लिए चित्तवृत्ति के सयंम से गीति-काव्य में अपने कल्याणकारी उद्‌गारों को व्यक्त करता है। उसे संसार से कोई विशेष सम्पर्क नहीं रखना पड़ता। आत्म-सन्तोष के लिए भक्ति-भाव अथवा दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों में विह्वल होकर गीत की सृष्टि करता है। उसे गीत में एक अलौकिक ज्योति की अनुभूति होती रहती है और उसके अन्तःकरण में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें प्रसारित होने लगती हैं। वह अलौकिक आनन्द में तन्मय हो जाता है। इस प्रकार के गीत पदों के रूप में मिलते हैं। दूसरे प्रकार के गीतों में धार्मिक दृष्टिकोण को स्थान नहीं दिया जाता। न उसमें आत्म-कल्याण की भावना ही प्रधान रहती है। वाह्य संसार के अन्तःकरण में अपने अन्तःकरण का तारतम्य मिला कर कवि मनोरञ्जन के लिए गीत की रचना है। उसमें प्रकृति के रूप-सौन्दर्य की चरम अभिव्यक्ति होती है, जिसकी सूक्ष्मता में कवि का अन्तर्जगत छाया की भाँति साथ साथ चलता है। इस प्रकार के गीतों में आधुनिक कवियों को महान सफलता मिली हैं। उन्हों ने अपनी कल्पना की उच्च उड़ान में वाह्य संसार को—प्रकृति को अपने अन्तस्तल में मिला कर उससे एका-कार प्राप्त कर लिया है, जिसमें उन्हें परम-सत्ता की आनन्दमयी, सौन्दर्य युक्त आभा की अनुभूति होती है। उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर अपने भावों

को सूक्ष्म से सूक्ष्म बनाने की चेष्टा की है और वह प्राप्त हो सकी है प्रकृति के रूप-सौन्दर्य की अनुभूति पूर्ण आभा में। यही इस युग के गीतों की बड़ी विशेषता है। इधर बदलती प्रकृति में गीतों पर प्रगतिशील भावनाओं का समुचित प्रभाव पड़ रहा है जिससे गीत काल्पनिक चित्र न रह कर यथार्थ के ऐतिहासिक चित्र बनते जा रहे हैं।

गीति-काव्य और सङ्गीत

इस संसार में आकर मनुष्य आनन्द की ही खोज में दिन-रात बेचैन रहता है। आनन्द की प्राप्ति ही उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। अतएव अपने जीवन के विकास में उसने ऐसे अनेक साधनों का भी विकास किया है जिनके द्वारा उसे अपरिमित आनन्द की प्राप्ति होती है। ऐसे साधनों में कलाओं का सबसे ऊँचा स्थान है। कलाओं का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करके हृदय में आनन्द की उत्पत्ति करना है। सौन्दर्य उत्पन्न करने के साधन भिन्न-भिन्न कलाओं में भिन्न-भिन्न हैं। काव्य कला में भाव के द्वारा, चित्रकला में रङ्गों और रेखाओं के द्वारा, संगीत में नाद के द्वारा और नृत्य में अङ्गों की सुकुमार गति के द्वारा सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। वास्तव में कला के द्वारा मनुष्य अपने मानसिक भावों को ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रगट करता है क्योंकि उसके अभ्यांतरिक भावों में ही आनन्द का रहस्य छिपा है। इसीलिए वह स्वभाव से ही अपने मानसिक भावों को प्रकट करने के लिए बेचैन रहता है। अबोध बालक जब प्रथम बार अनायास ही अपने मुख से टूटा-फूटा शब्द बोलता है अथवा अपनी उंगलियों के सुकुमार संकेतों से किसी को अपनी ओर बुलाता है तो फूला नहीं समाता। न जाने भाव-प्रकाशन के इस प्रथम प्रयास में उसका कितना आनन्द छिपा है। इसीलिए तो मनुष्य को कला की अभि-व्यक्ति में परम-आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्द का सबसे अधिक उद्रेक होता है संगीत में।

समय की माप में यह बतलाना कठिन है कि संगीत की उत्पत्ति कब हुई। इसका इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानव-स्वभाव और

उसकी मनोवृत्तियों के अनायास प्रस्फुरण। मनुष्य के सुख-दुख, राग-विराग, विरह-मिलन और आशा-निराशा आदि की अभिव्यंजना में दिव्य-गान की अनुभूति ही परम शान्ति का कारण होती है। इसी से तो संगीत में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का आनन्द मिलता है। सांसारिक सुखों के ऐश्वर्य में मनुष्य संगीत की मधुर झंकार पाकर विभोर हो उठता है तो विरह-कातर भक्त भी अपने 'करुणा कलित हृदय में विकल रागिनी' बजाकर प्रियतम की मधुर अनुभूति में विलीन हो जाता है। तब संगीत ही परमार्थ का सरल साधन बन जाता है।

भावों के सौन्दर्य में संगीत खिल उठता है और संगीत के सौन्दर्य में भाव। भावों को यह सौन्दर्य काव्य से मिलता है। अतएव संगीत के सौन्दर्य में काव्य पर्याप्त अभिवृद्धि करता है। और काव्य को भी संगीत की आवश्यकता बनी ही रहती है। यही तो कारण है कि हमारा पुरातन काव्य गेय है। संगीत काव्य में इतना अधिक व्यापक हो गया है कि आयुर्वेद आदि ग्रन्थों में भी इसका निर्वाह पाते हैं। काव्य और संगीत को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसे काव्य को ही हम गीति-काव्य का नाम देते हैं। श्री सुमित्रा नन्दन पंत के शब्दों में—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

कवि और गायक एवं कविता और गीत दो भिन्न वस्तु नहीं हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि संगीत गीति-काव्य की अनिवार्य विशेषता है। गीति-काव्य हमारे अन्तर्जगत का स्वाभाविक प्रस्फुरण होता है। संगीत से यह अन्तर्जगत झंकृत हो उठता है। काव्यानन्द की अनुभूति में कवि का हृदय रस से आप्लावित हो जाता है। इसी रसोद्रेक के कारण स्वर और लय के नियमित आरोह-अवरोह से अन्तराल में एक अनिर्वचनीय गान की अनुभूति होती है। इस अनुभूति में मधुरध्वनि और सुकुमार स्वर-विस्तार के द्वारा

काव्य-जनित भाव तरल होकर निकलता रहता है। जिससे भावमय संगीत की धारा प्रवाहित हो जाती है। और मन को तन्मयता प्राप्त होती है। एक ओर उसे भाव की अनुभूति होती और दूसरी ओर अनन्त संगीत की। दूसरे शब्दों में काव्य और संगीत के इस सहज सामंजस्य को ही गीति-काव्य कहते हैं।

केवल भावमयी कला
ध्वनिमय है संगीत;
भाव और ध्वनिमय उभय
जय कवित्व नय-नीति।

—गुप्त जी

काव्य भाव प्रधान होता है और संगीत स्वर प्रधान। साधारणतया काव्य में भी लय-युक्त संगीत होता है और संगीत में भी भाव। संगीत में भाव की पूर्ति काव्य करता है और काव्य को मधुर आह्लाद से प्रकम्पित कर देने वाली झंकार संगीत से मिलती है। किन्तु काव्य लय के अभाव में नीरस हो जाता है, पर संगीत भाव-रहित होकर भी अपना प्रभाव घटने नहीं देता। क्योंकि संगीत का विकास स्वरों में होता है। केवल स्वरों के उतार-चढ़ाओं के संतुलन से ही संगीत से रसोद्रेक हो जाता है। जिसका प्रभाव भावपूर्ण संगीत से कुछ कम नहीं पड़ता। यही कारण है कि चेतन वस्तुओं के साथ जड़ पदार्थों पर भी संगीत का प्रभाव समान रूप से पड़ता है। गायक जब तन्मय होकर स्वरों के विस्तार में अपनी अन्तश्चेतना को जाग्रत कर लेता है तो वह अपने राग के प्रभाव से बुझे हुए दीपक भी दीप्तिमान कर सकता है, पत्थर को भी मोम बना सकता है, म्रियमाणों को जीवित कर सकता है, रोतों को हँसा सकता है, हँसतों को सुला सकता है। यहाँ तक कि जड़ को चेतन और चेतन को जड़वत बना सकता है। जागृति और जीवन के आलाप से वह विश्व भर को विमुग्ध कर लेता है।

संगीत में एक विश्व-व्यापक शक्ति होती है। वह न केवल मानव की ही कला है वरन् संसार में व्याप्त ब्रह्मानन्द का ही अनुरूप है। इसी से स्वर को ब्रह्म-स्वरूप माना है। समीरण की सुकुमार गति में, जल के कल-कल

प्रवाह में, पत्तों की मर्मर ध्वनि में, सरिता में, बन में, संसार में किं बहुना विश्व के विशाल अवकाश में, संगीत का दिव्य-राग सुनाई पड़ता है। गीति-काव्य में काव्य की अपेक्षा संगीत की मात्रा अधिक होती है, कारण कि गीति-काव्य का उद्देश्य आत्म-कल्याण और परम-आनंद की प्राप्ति करना है और इनका सर्वोत्कृष्ट साधन है संगीत।

भारतीय संगीत के अन्तर्गत गायन, वाद्य और नृत्य अर्थात् गाना, बजाना और नाचना तीनों आ जाते हैं। गीति-काव्य में विशेषकर गायन और वाद्य का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु संकीर्तन आदि में कभी-कभी नृत्य भी प्रयुक्त होता है।

संगीत-शास्त्रों में गायन के अनेक गुण और दोषों का विशद विवेचन है। गीति-काव्य की दृष्टि से दोषों की अपेक्षा उसके गुणों का अधिक महत्त्व है। अतएव गायन के मुख्य-मुख्य गुणों को दे देना अनुचित न होगा। वे यह हैं—[1]

रक्तं अर्थात वेणु-वीणा दोनों का स्वर एक करना।

पूर्णं—हर एक स्वर अपने-अपने स्थान पर ठीक लगाना।

स्वर, छंद और पादाक्षर को ठीक रीति से कहना।

अलंकृतं—उर, सिर और कण्ठ—स्थानों पर आवाज़ का ठीक-ठीक उच्चारण करना।

प्रसन्नं—आवाज़ गम्भीर और शंका रहित हो।

व्यक्तं—पदों का भाव ठीक-ठीक समझ में आवे तथा व्याकरण की अशुद्धियाँ न हों।

विक्रुष्टं—तार सप्तक के स्वरों में कहा जाने वाला अक्षर शुद्ध रूप से बोला जावे।

श्लक्ष्णं—उदात्त-अनुदात्त स्वरों पर उचित ज़ोर होना चाहिए।

---

[1] सुस्वरं सुरसंचैव सुरागमधुराक्षरम्।
सालंकार प्रमाणं च षड्विधं गीत लक्षणम्॥

समं—समासों के स्थान पर ठीक 'सम' आना चाहिए।

सुकुमारं—मृदु वर्ण में स्वरों का मृदुता के साथ उच्चारण करना।

मधुरं—स्वर, वर्ण-पद आदि मधुर होने चाहिएँ। गीति-काव्य की दृष्टि से रक्तं, पूर्णं, प्रसन्नं, व्यक्तं और सुकुमारं का विशेष महत्त्व है।

"सम्पूर्ण विश्व में एक ध्वनि व्याप्त है। इस ध्वनि को 'प्रणव ध्वनि' कहते हैं। इसी ध्वनि के प्रस्तार से संगीत के सात स्वर उत्पन्न हुए हैं। मानव-स्वर के उच्चारण के विचार से इनके भिन्न-भिन्न स्थान माने गए हैं। वे स्थान हैं सर्वव्यापक ईश्वर के शीर्ष, नेत्र, मुख, कण्ठ, नाभि और गुह्य। इन स्थानों से उत्पन्न स्वरों के नाम हैं—षड़ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन स्वरों से मूलतः हिंडोल, दीपक, भैरव, मालकोष, श्रीराग और मेघ आदि राग उत्पन्न हुए हैं। अणु-परमाणुओं की जिस समष्टि से आकाश बना है उसके कम्पन से नाद की—उत्पत्ति हुई। एक से अधिक नादों के प्रकम्पन से अनुरणन होता है और क्योंकि यह अनुरणन सुना जा सकता है, इसलिए इसे 'श्रुति' कहते हैं। कई श्रुतियों की समष्टि को स्वर कहते हैं।"[1] स्वरों के आरोह अवरोह को मूर्च्छना कहते हैं। इस प्रकार नाद से श्रुति की, श्रुति से स्वर की, स्वर से मूर्च्छना की और मूर्च्छना से राग की उत्पत्ति हुई है। संगीत के आधार हैं स्वर, जिनमें परिवर्तित संयोग से नाना प्रकार के राग और रागिनियों की उत्पत्ति होती है। स्वर सात प्रकार के होते हैं, जिन्हें संक्षेप में 'स र ग म प ध न' कहते हैं। इन सात स्वरों से मिल कर सप्तक बनता है। प्रत्येक सप्तक का विस्तार २२ श्रुतियों और २१ मूर्च्छनाओं में हुआ है। इनके अतिरिक्त संगीत में तीन ग्राम हैं—मन्द्र, मध्य और तार (मुदार, उदार और तार) जिनमें से प्रत्येक में एक-एक सप्तक होता है।

यहाँ पर नाद के सच्चे स्वरूप को समझ लेना भी आवश्यक है। नाद को ब्रह्म-स्वरूप माना गया है।—नादरूपं परं ज्योतिर्नाद रूपी परो हरिः। शिव

---

[1] श्री हरिनारायण मुखोपाध्याय।

का डमरू नाद का आदि स्थान है। नाद से विन्दु की उत्पत्ति हुई है। यह विन्दु ही प्रणव अथवा सृष्टि का कामबीज है। यही भगवान को अनेक रूपों में व्यक्त करता है—एकोऽहं बहुस्याम्। और इसी को भगवान सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त करते हैं—संचार करो सकल कर्मे शान्त तोमार छन्द (रवीन्द्र)। शिव के डमरू के नाद से ही ज्ञान या शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है अतः शब्द ब्रह्म और नाद ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। नाद समस्त आकाश में व्याप्त है अतएव आकाश नाद गुणमय है। किन्तु पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही लघु रूप है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। अतएव जो नाद ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वह पिंड में भी व्याप्त है। इसी सर्व-व्यापक नाद को अनाहत नाद कहते हैं। ध्यानावस्थित योगिजन अपनी कठिन से कठिन साधना में भी इसको सुनने के लिए लालायित रहते हैं। साधना के उच्चतम स्तर में पहुँच कर आत्मा और ब्रह्माण्ड में व्याप्त इस अनाहत नाद को सुन कर ही उनको परम शान्ति और आनंद प्राप्त होता है। इसी नाद को श्रीकृष्ण अपनी मुरली के द्वारा सुनाकर ब्रज-बालाओं को विमुग्ध-बेसुध कर लेते हैं। उस तन्मयता में उनके मुख से बार-बार यही निकलता रहता है—छबीले मुरली नेकु बजाउ।

बलि बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधारस प्याऊ

जा रस को सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान॥

उनकी सम्पूर्ण शक्तियाँ और सम्पूर्ण वृत्तियाँ मुरली के इस मधुर राग की ही अनुभूति में नाच उठती हैं। वैष्णव कवियों के मुरली गीत वास्तव में उस अनाहत नाद का ही संचार करते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है राग छः प्रकार के होते हैं। प्रत्येक राग की पाँच-पाँच स्त्रियाँ हैं जिन्हें रागिनी कहते हैं। इनमें भैरवी, नट, कान्हेडा देश, केदारा, टोडी, गौरी, वसंत, आसावरी, रामकली, विलावली और भूपाली विशेष उल्लेखनीय हैं। राग और रागिनियों के स्वभाव में वही अन्तर है जो पुरुष और स्त्री के स्वभाव में होता है। राग साधारणतया गम्भीर, तीव्र, ओजस्वी और प्रखर होता है जैसे मालकोष, दरबारी। रागिनी में सुकुमारता, विनम्रता और सरलता वांच्छनीय हैं जैसे बागेश्री, आसावरी। राग-रागिनियों

में हर एक के ४८ सन्ततियाँ होती हैं। प्रत्येक राग-रागिनी के गाने का निश्चित समय होता है—

प्रातः ३ बजे से ६ बजे तक—लालता, ललिता, सोहनी, परज, कालिंगडा, रामकली, राग श्री और भैरवी आदि।

११ बजे से २ बजे दोपहर तक—सारंग, पीलू, धानी, पटमंजरी, बरुआ इत्यादि।

२ बजे से ७ बजे शाम तक—मालश्री, जैतश्री, धनाश्री, पूर्वी, दीपक, श्री, गौरी, मालव इत्यादि।

७ बजे से ११ बजे रात तक—भूपाली, कामोद, केदारा, पहाड़ी, तिलंग, कान्हेडा, नीलाम्बरा, गारा इत्यादि।

११ बजे रात से ३ बजे प्रातः तक—विहाग, मालकोष, मालवी, हिडोल आदि।

ऋतुओं की दृष्टि से मेघ और मलार वर्षा ऋतु में; वसन्त, वसन्त में; होली और फाग, फागुन में; चैती चैत में; और वैशाखी वैशाख में गाए जाते हैं।

गीत मुख्यकर दो प्रकार के होते हैं—काव्य गीत और लोक गीत या ग्राम गीत। लोक गीत भी कई प्रकार के होते हैं। विशेष कर उनका सम्बन्ध उत्सवों से या सामाजिक रीति-रिवाज़ों से होता है। इन गीतों में काव्य-सौष्ठव कम होता है पर कभी कभी तो इनमें भाव बहुत ही स्वाभाविक और मार्मिक होते हैं। भाषा साधारण बोल चाल की चलती-बोली होती है। प्रायः उत्सवों पर ही गाए जाते हैं और मौखिक ही रहते हैं। इन गीतों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—अविवाहित कन्याओं के गीत, विवाहित स्त्रियों के गीत और पुरुषों के गीत।

लड़कियों के गीतों में मुख्यकर झूला और भ्रातृ-प्रेम सम्बन्धी तथा कौतूहल वर्धक गीत होते हैं जिनमें भावी प्रेम का सूक्ष्म निर्देश भी होता है। स्त्रियों के गीतों में सोहर, गारी, विवाह-गीत, फाग, सोहाग और भक्ति के गीत होते हैं। जिनमें भावावेश और अनुभूति की गहराई साफ़ झलकते हैं।

पुरुषों में प्रायः होली, फाग, चैती, वैशाखी ऋतु के अनुसार और लावनी, चौबोला, ग़ज़ल, कजरी, ठुमरी, कहरवा, झूमर और रेखता आदि साधारणतया पाए जाते हैं।

काव्य गीतों में विशेषकर राग-रागिनी से पूर्ण पद शैली का ही प्रचार रहा है, जिनमें आत्म-कल्याण, भक्ति और प्रेम की भावनाएँ ही मुख्य रूप से विद्यमान हैं। इनमें भावों की उत्कृष्ट तथा मधुर अभिव्यक्ति के साथ संगीत का भी प्रचुर मात्रा से मेल रहता है। भावों में विविधता, मौलिकता और प्रभाव पर्याप्त रूप से रहते हैं। आधुनिक युग में पद शैली का लगाव नहीं रहा है और न संगीत ही को मुख्य आधार माना जाता है। छन्द में नवीन रूप उपस्थित हुए हैं जिनमें संगीत की रूप-रेखा भी बदल गई है। निराला जी ने गायन में मौलिक प्रयोग किए हैं। प्रसाद जी ने अपने गीति-काव्य में संगीत के संस्कृत रूप (क्लासि-कल) को ऊपर उठाकर काव्य-गीतों की बहुत उन्नति की। साधारणतया गीतों में देशी प्रणाली का ही अनुसरण किया जा रहा है। वर्तमान हिन्दी काव्य को साधारणतया गीति-काव्य की संज्ञा दी जाती है। और उसके अन्तर्गत गेय और अगेय दोनों ही प्रकार का काव्य आ जाता है। पर गीति-काव्य में संगीत और काव्य दोनों ही कलाओं का संयोग रहता है। यों तो भारतीय काव्य, संगीत से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो काव्य है गेय है। किन्तु हिन्दी में हमें गेय और अगेय दोनों प्रकार के काव्य मिलते हैं। ऐसी स्थिति में अगेय काव्य को भी गीति-काव्य कहना उचित नहीं जँचता। पाश्चात्य साहित्य में आधुनिक कलाकारों ने लिरिक में भावोद्रेक को महत्ता देकर संगीत को गौड़ माना है। इसी से प्रभावित होकर भावावेश से पूर्ण काव्य को हम गीति-काव्य कहने लगे हैं। यह प्रवृत्ति भारतीय दृष्टिकोण से सर्वथा अनुचित है। संगीत गीति-काव्य की सर्व प्रथम विशेषता होनी चाहिए और गीति-काव्य के अन्तर्गत भावावेश युक्त गेय काव्य ही आना चाहिए।

यहाँ पर भारतीय संगीत-शास्त्र के विकास का संक्षिप्त उल्लेख कर देना असंगत न होगा, सामवेद भारतीय संगीत का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। 'साम-

२

गान' आदि गान माना गया है। उस समय प्रायः तीन ही स्वरों—उदात्त अनुदात्त और स्वरित का प्रयोग होता था। संगीत का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति था और उसे 'गान्धर्व' कहते थे। वैदिक काल के पश्चात् पौराणिक काल में कुछ कथाओं के आधार पर सरस्वती, नारद, गन्धर्व, अप्सराओं और शिव आदि को संगीत के देवता माना गया है। रामायण काल में महर्षि वाल्मीकि ने छन्द की रचना की। तभी से संगीत में लय और छन्द का प्रयोग होने लगा। और यह संगीत 'गान' कहलाया जिसका उद्देश्य विशेष कर मनोरञ्जन होने लगा था। उस समय भीरी, दुदुम्भी, मृदंग, वीणा आदि अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्र प्रचलित थे। महाभारत काल में संगीत की यथेष्ट उन्नति हुई। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में सप्त-स्वर, तीन ग्राम, मूर्च्छनाओं और श्रुतियों का सविस्तार वर्णन मिलता है। बौद्धकाल में यद्यपि अन्य कलाओं की यथेष्ट उन्नति हुई किन्तु संगीत की ओर कुछ उपेक्षा की दृष्टि ही रही। संगीत का वास्तविक विकास चौथी शताब्दी में कालिदास के नाटकों द्वारा हुआ। इसके पश्चात् दक्षिण भारत में सातवीं शताब्दी के बाद भक्ति-भाव के जागृत होने पर संगीत को बहुत प्रोत्साहन मिला। जिसका प्रभाव उत्तर भारत में आगे चल कर भक्ति-काल में दृष्टिगोचर होता है। दसवीं शताब्दी में महाराजा विक्रमादित्य स्वयं संगीतज्ञ और काव्यानुयायी थे। उन्होंने संगीत पर कई सुन्दर ग्रन्थ भी रचे हैं। इनके पश्चात् बारहवीं शताब्दी में जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में संगीत की उच्चतम कला के दर्शन होते हैं। इसी समय देवगिरी में सारंगदेव संगीत के महान आचार्य हुए। जिनके 'संगीत रत्नाकर' नामक ग्रन्थ का बड़ा सम्मान है।

मध्यकाल में यवन आक्रमण और विजय से भारतीय संगीत में फ़ारसी संगीत का सम्मिश्रण हुआ। अमीर खुसरो (१३वीं शताब्दी) जो अलाउद्दीन के दरबार में थे एक महान संगीतज्ञ, कवि, योद्धा और मन्त्री थे। उन्होंने संगीत में अनेक नवीन रागों के साथ 'कव्वाली' का भी प्रचार किया। और वीणा के आधार पर सितार का आविष्कार किया। १५वीं शताब्दी मिथिला में शिवसिंह के दरबारी कवि विद्यापति ने 'राग तरंगिनी' की रचना

की, जिसमें संगीत की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है। भक्तिकाल के आते आते चैतन्य देव महाप्रभु ने संकीर्तन के द्वारा संगीत का खूब प्रचार किया। किन्तु उसका पूर्ण विकास हुआ अकबरी दरबार में। इसी समय वृन्दाबन में स्वामी हरिदास एक बड़े सन्त और संगीतज्ञ थे। इनके शिष्यों में तानसेन, बैजू बावरा, और गोपालराय मुख्य थे। तानसेन अकबर के नौ रत्नों में से थे और दीपक राग में कुशल थे। बैजू बावरा मेघ के और गोपालराय मालकोष के अद्वितीय गायक थे। साथ ही मानसिंह भी ऊँचे दरजे के गायक थे और ध्रुपद में उनकी अलौकिक गति थी। इनके अतिरिक्त इसी काल में अनेक गायक भक्त-कवि हुए। सूरदास और मीरा बाई ने संगीत के द्वारा भक्ति पूर्ण अनुपम पदों की रचना की। जिनका आज भी पर्याप्त प्रचार है। ध्रुपद की कठिनता के कारण 'ख्याल' राग की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् शाहजहाँ के काल तक संगीत यथापूर्व उन्नत होता रहा, किन्तु औरङ्गज़ेब के काल से ह्रास होने लगा। मुहम्मदशाह के दरबार में फिर कुछ प्रोत्साहन मिला। ठुमरी और टप्पा का विकास किया गया। रीति काल में संगीत का ह्रास ही होता चला गया। यद्यपि तन्जौर, ट्रावंकोर, जैपुर आदि राजधानियों में उसे जीवित रखने का प्रयत्न किया गया। जिससे उसकी परम्परा बराबर बनी रही।

आधुनिक युग में अन्य कलाओं के साथ संगीत कला को भी प्रोत्साहन मिला। बड़े बड़े नगरों में, विश्व विद्यालयों में और दरबारों में उसके पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया। संगीत-सम्मेलनों का प्रचार किया गया। सं० १६६० के पश्चात् से भारतीय संगीत को विशेष प्रगति मिली। जिसका श्रेय है स्वर्गीय श्री विष्णु दिगम्बर और श्री विष्णु नारायण भात खण्डे को। इन्होंने अथक परिश्रम से संगीत का पुनरुद्धार किया और अपने मतों के अनुसार अपने अपने स्कूल खोले। बम्बई में 'गान्धर्व महा विद्यालय' की स्थापना की। इन के शिष्यों ने सम्पूर्ण भारत में संगीत का पुनरुत्थान किया। श्री भातखण्डे ने संगीत की शास्त्रीय विवेचना की और नवीन खोजों द्वारा उसकी बड़ी उन्नति की, जिससे संगीत नियमित और निश्चित रूप पा गया। इसीसे श्री भातखण्डे आधुनिक संगीत के श्रद्धेय आचार्य समझे जाते हैं।

इस समय संगीत की चार प्रणालियाँ प्रचलित हैं—ठुमरी, टप्पा, ख्याल और ध्रुपद। नासिरुद्दीन ध्रुपद के लिए, मुहम्मद शाह और मरौवत खाँ ठुमरी के लिए विख्यात हैं। उस्ताद फैयाज़ खाँ और पं० ओंकारनाथ ठाकुर ख्याल के लिए प्रसिद्ध हैं। कुमार सचिन देव वर्मन ग्रामगीतों को क्लासिकल संगीत में बड़ी कुशलता से गाते हैं।

संगीत में गायन, वाद्य और नृत्य तीनों ही अङ्गों की पर्याप्त उन्नति हुई है। सार्वलौकिक उन्नति के कारण ही आज हम अपने गीति-काव्य में भी संगीत का अपरिमित निर्वाह पाते हैं।

गीति-काव्य का विकास

पूर्व परिचय

नियमित रूप से हिन्दी में शुद्ध गीतों की रचना हिन्दी साहित्य के मध्य काल में आरम्भ होने वाली सन्त कवियों की परम्परा से मिलती है। किन्तु इसके पूर्व भी वीरगाथा काल में मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनों ही रूपों में गीति-काव्य मिलता है। मुक्तक गीत बहुत ही अनियमित और निम्नकोटि के मिलते हैं। प्रबन्ध-गीत प्रायः वीर गीति-काव्य के रूप में प्राप्त हैं जो विशेषकर गेय और उत्साह वर्धक हैं।

हिन्दी गीति-काव्य के विकास को भली प्रकार समझने के लिए हमें देखना होगा कि इसके पूर्व देश में गीति-काव्य का क्या स्वरूप था और उसका हिन्दी गीति-काव्य पर क्या प्रभाव पड़ा। वास्तव में हिन्दी-गीतिकाव्य की रचना के लिए भारतीय गीति परम्परा ने ही पृष्ठ तैयार किया है। उसकी प्रवृत्तियाँ और मूल भावनाएँ हीं हमारे गीति-काव्य के मूल में हैं। क्योंकि "ऐसा गीति-साहित्य जिसने सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति रूपों की अनन्तता, और भाव का बहुरंगी जगत् सँभाला हो आगत काव्य युगों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।"[1]

---

[1] श्रीमती महादेवी वर्मा।

हमारा गीति-काव्य उतना ही प्राचीन है जितने कि वेद, क्योंकि वेदों के मन्त्र भावमय संगीत से परिपूर्ण हैं। ऋग्वेद में उषा पर लिखी ऋचाएँ विशेषकर गीतिमय हैं। उनमें भावों का वैचित्र्य, कल्पना की उड़ान, प्रकृति-रूपों के विविध चित्र और कल्याणकारी आह्वान अपने अमर प्रभाव के द्वारा हममें अलौकिक जीवन और प्राण का संचार करते हैं। उषा के वरदानों के लिए निम्न गीत में कितनी मार्मिक प्रार्थना की गई है—

दिवजाता, शुभ्राम्बर-विलसित,
नूतन आभा से उद्भासित—
भू-सुषमा की एक स्वामिनी!
शोभन, आलोकित विहान दे!
अरुण-किरण से बाजि, चन्द्ररथ
ले, करती जो पार क्रान्तिपथ—
निशितम हारिणि, यह विभावरी—
हमें यजन-गौरव महान दे!
सुगम तुझे गति है अचलों पर
सुतर शान्त लहरों का सागर—
निश्चित क्रम, विस्तृत पथ चारिणि
स्वतः दीप्त तू हमें मान दे!
दिन दिन नव नव छवि में आकर
गृह-गृह में आलोक बिछाकर
ज्योतिष्मती प्रात की बेला—
ऐश्वर्यों की श्रेष्ठ-दान दे!
जन न ठहरते पथ में पगधर—
खग न रुके नीड़ों में पलभर—
जिसका उदय विलोक वही—
अरुणा अब हमको सजग प्राण दे!

जागे द्विपद, चतुष्पद आकुल—
दिग्दिगन्त चारी पुलकाकुल—
जिसका आगम देख, उषा वह
कर्म पंथ सबको समान दे![1]

इसी प्रकार सामवेद में भी अनेक सुन्दर-सुन्दर गान हैं। सामवेद ही आर्य जाति का आदि गान कहा गया है। वैदिक साहित्य में काव्य और गीत में भेद नहीं था क्योंकि काव्य की रचना संगीत के अनुसार गाने के लिए ही होती थी। इसी से प्राचीन काव्य प्रायः सभी गेय हैं। उस समय संगीत काव्य का अनिवार्य अंग समझा जाता था। वेदों के मन्त्रों का उत्सवों और यज्ञों में सर्वत्र गान होता था। वैदिक साहित्य में काव्य और गीतिकाव्य को अलग नहीं किया जा सकता। जो काव्य है, गेय है और जो गान है, काव्य से युक्त है।

वैदिक काल के पश्चात् वेदों की मुक्त भाषा संस्कृत में आते आते व्याकरण के जटिल नियमों से बद्ध हो गई। इसी प्रकार संगीत भी अपने भाव-स्फुरण एवं भाषा और स्वर में नियमित होता चला गया। वैदिक गान प्रायः तीन ही स्वरों में गाया जाया करता था। वे स्वर थे,—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इसके पश्चात् संगीत में लय, ताल और वाद्य का समावेश हुआ। 'वेदों की आमनाओं के अतिरिक्त सब से पहले वाल्मीकि ने नवीन छंद की रचना की'[2] जिससे गीतों में छंद का प्रयोग होने लगा। संगीत भी ताल, छंद और वाद्य से बँध गया।

वैदिक संगीत का प्रयोग प्रायः गन्धर्व किया करते थे। इस संगीत का उद्देश्य मनोरंजन न होकर मोक्ष प्राप्ति था। वह यज्ञ आदिकों के अवसर पर सदैव गाया जाता था। उस समय जीवन में उल्लास और आनंद ही आनंद था। सांसारिक जीवन की चिन्ता लेश मात्र को भी छू न गई थी। अतएव

---

[1]अनुवादिका—श्रीमती महादेवी वर्मा,

[2]चित्रम्, आम्नायदन्योदयं नूतनश्छन्दसामवतारः
—भवभूति

जीवन का उद्देश्य सांसारिक जीवन को सुखमय बनाना नहीं था, वरन् पूर्णतया मोक्ष प्राप्त करना था। मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्म-कल्याण और साधना की आवश्यकता होती है। साथ ही ब्रह्म की अनुभूति में परमानंद में तन्मय हो जाने की भी आवश्यकता रहती है। संगीत में तन्मय करने की शक्ति सब कलाओं से अधिक है। इसी कारण वैदिक काल में हम संगीत को इतना समुन्नत पाते हैं। वह जीवन का एक आवश्यक अंग हो गया है। इसी संगीत का नाम 'गान्धर्व' था। जैसा कि पहिले कहा गया है, वैदिक संगीत में केवल तीन ही स्वर थे। उसके पश्चात् विद्वानों ने संगीत का बहुत विकास किया। संगीत के अनेक लक्षण स्थिर किए गए और राग-रागिनियों को उत्पन्न किया गया। यह संगीत महर्षि वाल्मीकि की रामायण के बाद से लोक गान होता चला गया और इसे 'गान' के नाम से पुकारा गया। लोक गान की धारा बलवती होती गई क्योंकि उसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति न होकर मनोरंजन हो गया था। इसका चरम विकास महाभारत काल में मिलता है। पर इस युग के गीतों में काव्य का सौष्ठव न था, संगीत का अलौकिक प्रवाह था। गीतों का सृजन प्राय: नाटकों में ही होता था। कुछ काल पश्चात् भरत मुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में नाटकों के साथ संगीत का भी अपूर्व विकास किया। उन्होंने संगीत में तीन स्वरों के स्थान में सात स्वरों (स र ग म प ध नि) का प्रयोग किया तथा अनेक रागों और श्रुतियों को समुन्नत किया। भरतमुनि के समय में ही प्राचीन गीत बहुत विकसित हो चुके थे। पर स्वतन्त्र रूप से अब भी गीत नहीं लिखे जाते थे। नाटकों में ही काव्य गीतों की रचना होती थी। 'नाट्यशास्त्र' का उल्लेख कालिदास 'विक्रमोर्वशी' में इस प्रकार करते हैं—"आठों रसों से युक्त, भरतमुनि के द्वारा आप लोगों (अप्सराओं) पर प्रयुक्त नाट्यशास्त्र के प्रयोगों का अभिनय महाराज इन्द्र देखना चाहते हैं।"[1]

---

[1] मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः —विक्रमोर्वशी

यह ध्यान देने की बात है कि इस काल के गीतों में हृदय-उद्गार अथवा भावावेश और आत्माभिव्यक्ति की विशेष मात्रा न रहती थी। उनका उद्देश्य संगीत के द्वारा मनोरञ्जन करना ही था, जैसा कि नाटकीय गीतों के लिए अपेक्षित भी है। धीरे-धीरे संस्कृत भाषा लोक भाषा से पिछड़ती गई। उसका स्थान पाली अथवा प्राकृत भाषा ने ले लिया। जिसने काव्य-गीतों की उपेक्षा करके लोकगीतों को जन्म दिया। इन लोकगीतों ने ही वास्तव में हिन्दी गीति-काव्य की भूमिका तैयार की है। इन गीतों की मार्मिकता प्रकृति के सौन्दर्य को साहित्याकाश में छिटका देने में है।

ऐसे गीत हमें विशेषकर सातवाहन की 'गाथा सप्त-शती' में मिलते हैं। श्री गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्यासप्त शती' में शृङ्गार रस की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषा काल में रचे गए संस्कृत नाटकों में बहुत सुन्दर लोक-गीत मिलते हैं। इन नाटकों में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। प्रायः उच्चपात्र तो संस्कृत में बोलते हैं और निम्न श्रेणी के पात्र बोल-चाल की भाषा प्राकृत का प्रयोग करते हैं। अतएव ऐसे गीत हमें कालिदास के नाटकों में प्रचुरता से मिलते हैं। कालिदास के पश्चात् भी उनका प्रचार बना रहा। वास्तव में प्राकृत के नाटकीय गीतों की परम्परा कालिदास से ही आरम्भ होती है। इसका नूतन श्रोत आधुनिक काल में प्रसाद जी ने अपने नाटकों में खड़ी बोली के गीतों की रचना के द्वारा प्रवाहित किया। आज हम इस प्रवृत्ति का हिन्दी में सार्वलौकिक अनुकरण पाते हैं। यहाँ तक कि यह प्रवृत्ति नाटकों के क्षेत्र को लाँघकर प्रबन्ध काव्यों में भी घुस गई है जैसे साकेत अथवा यशोधरा के गीत। नाटकीय गीतों में प्रसाद जी के पश्चात् श्री हरिकृष्ण प्रेमी और श्री गोविन्दवल्लभ पंत का नाम उल्लेखनीय है। श्रीसुमित्रानन्दन पंत की 'ज्योत्सना' काव्य और नाटक का अनुपम संगम है। उसमें भी कतिपय अच्छे गीत मिलते हैं।

कालिदास का 'मेघदूत' संस्कृत में एक सुन्दर गीति-काव्य है और मृच्छकटिक, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और रत्नावली नाटकों में

प्राकृत के गीत मिलते हैं जिनमें प्रकृति और मानव जीवन की व्यंजना के अतिरिक्त कल्पना भी ऊँची है। धीरे-धीरे साधारण बोलचाल की भाषा प्राकृत साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर व्याकरण के जटिल नियमों से बद्ध हो गई। एक ओर लोक गीत साहित्यिक होते गए दूसरी ओर प्राकृत लोक-भाषा से दूर हटती गई।

प्राकृत के पश्चात् जो साहित्य की ही भाषा हो गई थी, लोक भाषा अपभ्रंश का काल आता है। इसी अपभ्रंश भाषा से आधुनिक आर्य-भाषाओं का जन्म हुआ। अपभ्रंश का साहित्य हमें बौद्ध धर्मावलम्बी सिद्धों और जैन-आचार्यों के द्वारा उपलब्ध हुआ। किन्तु गीति-काव्य की दृष्टि से योगमार्गी बौद्ध सिद्धों का विशेष महत्व है। इन सिद्धों का काल सं० ७५० से सं० १२५७ तक माना जाता है। यद्यपि इनकी परम्परा 'नाथ सम्प्रदाय' के रूप में १४ वीं शताब्दी तक चलती रही। इन्हीं सिद्धों ने हिन्दी-कविता को भी जन्म दिया है।

'हिन्दी कविता का आदि रूप नालन्दा और विक्रम शिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के बज्रयान तत्व के प्रचार की भाषा में मिलता है।'[1] यह सिद्ध संख्या में ८४ थे और इनका सम्प्रदाय 'सहजिया' सम्प्रदाय कहलाता था। इस सम्प्रदाय के प्रचारक लोक-भाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे। यह लोक भाषा मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मगही थी। इस सम्प्रदाय में अनेक कवि हुए हैं जिनमें से मुख्य सरह, शवरि, लूहि, दारिक, वज्रघंटा, जालंधर, कण्हपा और शान्तिपा थे। श्री राहुल सांकृतायन सरहा या सरहपाद को ही (सं० ८२६) हिन्दी का आदि कवि मानते हैं। इस सम्प्रदाय में बड़े-बड़े गायनाचार्य भी हुए। जिनमें विशेष प्रख्यात कण्हपा, कृष्ण वज्रपा और कृष्णाचार्यपा थे। इन आचार्यों ने संगीत की बहुत उन्नति की। राग—रागिनियों के आधार पर अनेक पदों की रचना की। इन पदों की भाषा अपभ्रंश है। इन तीनों आचार्यों के पदों का उदाहरण देना समीचीन होगा—

---

१ डा० रामकुमार वर्मा।

कण्हपा— राग देशाख

नगर बाहिरि रे डोम्बि ! तो होरि कुड़िया
छोई छोई जासि बाम्ह नाड़िया।
आलो डोम्बि ! तो ए सम करब म संगि
निधिण काण्ह कपालि गोइ लांग।
एक सो पादमा चउशठि पाखुडि
तहिं चडि नाचऊ डोम्बि बापुड़ि
हालो डोम्बि ! तो पुछमि सदभावे
आइससि जासि डोम्बि ! काहरि नावेँ ?

कृष्ण वज्रपा— राग गउड़ि

तिणि भुवण मइ वाहिअ हेले
हाऊँ सुतेलि महासुह लीले।
कइसणी हालो डोम्बी ! तो होरि भाभरि आलि
अन्ते कुलिण जणा माझे कबाली।
तखूँ लो डोम्बि ! सअल विटलिउ।
काज कारण संसहर टालिउ।
केहो केहो तो होरो बिरुआ बोलई।
विहुजण लोअ तौरैं कण्ठन मेलई॥

कृष्ण चार्यपा— राग पट मंजरी

नाड़ी शक्ति दिढ़ धारिअ खहे
अनह डमरु बाजिए बौर नादे।
कान्ह कपालि जोइ पइठ अचारे
देह न अरि बिहरए एकोरेँ।
आली काली घंटा ने उर चरणे
रबि शशि कुण्डल किउ आभरणे।

राग देश मोह लाइअ छार
परम मोख लभए मुत्तिहार ।

सहजिया सम्प्रदाय की इस परम्परा में हठयोगी सिद्धों का दूसरा सम्प्रदाय चला जिसे 'नाथ पंथ' कहा गया। यह विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित रहा। इस पंथ को मत्स्येन्द्रनाथ और गोरख नाथ ने चलाया। गीतिकाव्य की दृष्टि से नवनाथ और गोरखनाथ अधिक प्रसिद्ध हैं। गोरख पंथी शैव सम्प्रदाय के रूप में अब भी कहीं कहीं मिलते हैं। इनका विशेष विवरण गीति-काव्य के आदि युग में किया जावेगा। सहजिया सम्प्रदाय की पुरानी पोथियों का संग्रह म० म० पं० हर प्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध गान ओ दोहा" के नाम से किया है। इसी नाथ सम्प्रदाय ने हिन्दी साहित्य में सन्त सम्प्रदाय की नींव डाली। अतः सन्त साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों को, मध्य नाथपन्थियों को और पूर्ण विकास कबीर से प्रारम्भ होने वाली सन्त-परम्परा में नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास आदि को मानना चाहिए।[1] अतएव वैदिक काल से लेकर विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी तक गीति-काव्य स्वतन्त्र रूप में नहीं मिलता। मुक्तक पद बहुत ही कम रचे गए। इसके पश्चात् बारहवीं शताब्दी में जयदेव के 'गीत गोबिन्द' ने भारतीय गीतिकाव्य में एक उत्क्रान्ति मचा दी जिससे गीतिकाव्य का क्षेत्र सदा विस्तृत होता चला गया! वास्तव में जयदेव को ही स्वतन्त्र गीति-काव्य का जन्म-दाता मानना चाहिए। क्योंकि उन्होंने संगीत की उत्कृष्ट मर्यादा पर राग रागिनियों से पूर्ण सुकुमार भाव-भाषा में राधा-कृष्ण के प्रेम में तन्मय होकर गीतों की परम पावन धारा प्रवाहित की। जयदेव के गीतों में पद-लालित्य, सौन्दर्य-भावना और रस की जैसी व्यंजना है, अन्यत्र कम ही मिलेगी। उनके पदों में विश्व भर के मानव का हृदय प्रकम्पित कर देने की महान शक्ति है। वे संस्कृत भाषा के गान नहीं किन्तु मानव हृदय के गान हैं, जिनका प्रभाव नाद के सहारे ही किसी भी देश के निवासी पर सहज ही पड़ सकता है। वास्तव में

---

[1] डा० रामकुमार वर्मा

'गीत गोविन्द' से ही काव्य में राधा-कृष्ण के सौन्दर्य, प्रेम और विरह की परम्परा को प्रगति मिली। जयदेव बंगाल के सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी कवि थे। उनके विश्व विख्यात पदों में से एक का नमूना देखिये।

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे ॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेत समं सखि विरहि जनस्य दुरन्ते ॥
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।
अलिकुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे ॥
मृगमद सौरभ रभसवशंवद नवदल माल तमाले।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंशुक जाले ॥
मदन महीपति कनक दण्ड रुचि केसर कुसुम विकाशे।
मिलित शिलीमुख पाटलि पटल कृतस्मर तूण विलासे ॥

कहना न होगा कि हिन्दी गीति-काव्य पर जयदेव के 'गीत गोविन्द' का प्रयास प्रभाव पड़ा और वह भी विद्यापति पर विशेष कर। विद्यापति के अधिकांश पद भाव-भाषा और छंद के लिए 'गीत-गोविन्द' के ही ऋणी हैं। सूरदास के ऊपर भी उनका प्रभाव पड़ा है। किंतु संस्कृत में उन्होंने जहाँ इतनी ललित कोमल-कान्त पदावली का प्रयोग किया, हिन्दी के पदों में उतनी ही उनकी उपेक्षा की है। हिन्दी के उनके जो पद "गुरू ग्रन्थ साहब" में मिलते हैं वे निर्गुणवादी शुष्क भावना से निरे निम्न कोटि के जँचते हैं। न उनमें भाषा ही है और न भाव ही। जयदेव ने भक्ति-भाव में राधा-माधव की प्रेम-साधना को अपने पदों में गाकर हिन्दी गीति-काव्य के लिए परम उज्ज्वल पृष्ठ-भूमि तैयार कर दी। इनके पश्चात् हम हिन्दी साहित्य के आदि काल में आ जाते हैं।

काल-विभाग

इससे पहिले कि हिन्दी गीति-काव्य के विकास का विश्लेषण किया

जाए यह निश्चित कर लेना उचित होगा कि हिन्दी गीति-काव्य को कितने कालों में विभक्त किया जा सकता है और उन कालों का समय कब से कब तक होगा।

हिन्दी गीति-काव्य का आदि युग हिन्दी साहित्य के आदि युग—'वीर गाथा काल' के अनुसार ही सं० १०५० वि० से सं० १३७५ वि० तक अर्थात् अमीर खुसरो तक माना जा सकता है। इस काल में गीति-काव्य का कोई निश्चित शुद्ध रूप नहीं मिलता। भाषा में अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं।

दूसरा युग—मध्य-काल सं० १४०० वि० से सं० १६५० वि० तक माना जा सकता है। यही काल गीति-काव्य का स्वर्णयुग है। यद्यपि रीति-काल के आविर्भाव से गीति-काव्य की परम्परा प्रायः टूट गई किन्तु आधुनिक युग में मध्यकाल के गीतों की परम्परा भारतेन्दु जी और कविरत्न सत्यनारायण के पदों में स्पष्टतया मिलती है। रीतिकाल में भी कुछ स्त्रीभक्त-कवित्रियों ने उसी परम्परागत पदावली का सृजन किया। अतएव मध्यकाल के अन्तर्गत सन्त कवि, भक्त-कवि, रीतिकाल के कुछ कवि तथा भक्त-कवित्रियाँ और आधुनिक काल के प्रारम्भ के कुछ कवि आ जाते हैं। अतएव यह काल सं० १४०० वि० से सं० १६५० वि० तक फैला हुआ है।

तीसरा युग आधुनिक काल कहा जा सकता है, इसका प्रारम्भ 'प्रसाद' जी से हुआ। क्या भाव में, क्या भाषा में, क्या प्रवृत्ति में, क्या संगीत में, सबही दृष्टियों से गीति-काव्य में महान परिवर्तन आ गया। उसकी गति-विधि ही बदल गई।

आदि काल

यह काल गीति-काव्य के लिए सब कालों से अधिक अनुपयुक्त काल था। क्योंकि देश में राजनीतिक शान्ति न थी। जिससे सम्पूर्ण समाज अशांत था। एक ओर देश में राजपूत राजा अपने मान-सम्मान की रक्षा में रक्त की नदियाँ बहा रहे थे, तो दूसरी ओर पश्चिम की ओर से मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में साहित्य का सृजन असम्भव

नहीं तो कठिन अवश्य होता है। अतएव गीति-काव्य को समानुकूल वातावरण प्राप्त न हो सका। जो कुछ काव्य रचना हुई भी वह राजदरबारों में चारण और भाटों के द्वारा ही। इस समय राजस्थान राजनीति और युद्धों का केन्द्र हो रहा था। शासन के केन्द्र अजमेर, देहली और कन्नौज थे। उधर दक्षिण की ओर महोबा प्रमुख था। अतएव साहित्य की रचना भी इन्हीं केन्द्रों में हुई।

इस काल के काव्य में आश्रयदाता राजाओं के युद्धों का, आखेट का और उनके विलास-प्रिय जीवन एवं विवाहों का ही विशेष वर्णन है। अतएव सम्पूर्ण काव्य में अधिकतर वीर और शृंगार रस ही प्रवाह रूप में मिलते हैं। धीरे धीरे सं० १३५५ वि० तक अलाउद्दीन खिलजी के शासन से देश भर में मुसलमानी प्रभुत्व छा गया। हिन्दू-संस्कृति पर यवन-संस्कृति की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। यवन दरबार में मनोरञ्जन साहित्य को अमीर खुसरो द्वारा प्रगति मिली। इसी समय सुदूर पूर्व में नाथ पंथियों द्वारा धार्मिक साहित्य का भी सृजन हुआ। जिसमें हठयोग और शैवमत के सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। अतएव ऐसे वातावरण में गीति-काव्य के लिए कम ही अवसर था।

इस काल में गीति-काव्य के रूप में दो ही प्रमुख काव्य-ग्रन्थ मिलते हैं—वीसलदेव रासो और आल्हखण्ड। वीसलदेव रासो की रचना सं० १२१२ वि० में कवि नरपति नाल्ह ने की थी। वे विग्रहराज चतुर्थ उपनाम वीसलदेव के समकालीन थे और सम्भवतः उनके राजकवि भी थे। यह एक छोटा सा गीतात्मक वीर काव्य है जो लगभग २००० चरणों में समाप्त हुआ है। इसके चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में सांभर के राजा वीसलदेव का मालवा के राजा भोज परमार की पुत्री राजमती से विवाह और दहेज़ आदि का विस्तृत वर्णन है। दूसरे खण्ड में वीसलदेव का राजमती के प्रहास से रूठ कर उड़ीसा की ओर रण-यात्रा। तीसरे खण्ड में राजमती का विरह-वर्णन और वीसलदेव का वापिस लौटना। चौथे खण्ड में भोजराज का अपनी लड़की को घर ले जाना तथा वीसलदेव का फिर राजमती को चित्तौड़ लेजाने आदि का वर्णन है।

वीसलदेव रासो की रचना कवि ने गाने के उद्देश्य से की थी। क्योंकि जनता को सम्बोधित करके वह स्वयं गाता है,—

"गायो है रास सुणै सब कोई।
सांभल्यां रास गंगा फल होई॥
कर जोड़े नरपति कहई।
रास रसायण सुणै सब कोई॥

यद्यपि यह रासो गीतात्मक है किन्तु उसमें प्रबन्धात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। वीर गाथा काल में होते हुए भी यह वीर रस प्रधान न हो सका। इसमें शृङ्गार रस की ही प्रधानता है, जिसमें संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन है। यह काव्य वर्णन-प्रधान होते हुए भी भावोद्रेक से परिपूर्ण है। वीसलदेव रासो का महत्त्व भाषा की दृष्टि से अधिक है। इसकी भाषा बोल-चाल की पश्चिमी हिन्दी का प्राचीनतम रूप है जिसमें अपभ्रंश भाषा का अन्तिम प्रभाव मिलता है। किन्तु गेय होने के कारण यह सदैव मौखिक ही रहा जिससे इसकी भाषा बहुत कुछ बदलती गई। इसमें ब्रज-भाषा और खड़ी बोली के क्रिया पदों एवं कारकों का बीच-बीच में स्वतंत्र प्रयोग किया गया है एवं फ़ारसी, अरबी और तुरकी शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे महल, इनाम इत्यादि। इसकी कोई भी प्रति अपने असली रूप में अब उपलब्ध नहीं है। इसमें साहित्यिक सौष्ठव न होते हुए भी भाव-सौंदर्य अवश्य है। इस ग्रन्थ से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि उस समय हिन्दी भाषा का अपनी बोलियों के साथ खूब प्रचार था और वह सर्व साधारण की बोल-चाल की भाषा के साथ साहित्य-रचना में भी प्रयुक्त होने लगी थी।

इसके पश्चात् दूसरा वीर-गीति काव्य आल्ह खण्ड है। इसके रचयिता जगनिक (सं० १२३०) माने जाते हैं; किन्तु इस काव्य की कोई भी हस्त लिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। इसकी रचना केवल गाने के लिए ही हुई थी। जिससे यह साहित्य में रक्षण न पाकर उत्तर भारत की जनता की जिह्वा पर ही नृत्य करता हुआ तब से अब तक जीवित रह सका। इन्हीं गीतों का सर्व प्रथम संग्रह सं० १८६५ में फ़रुख़ाबाद के तत्कालीन कलेक्टर सर चार्ल्स

इलियट ने कराया था। यह संग्रह ही 'आल्ह खण्ड' के नाम से प्रचलित है। प्रायः पाँच सौ से भी अधिक वर्ष तक मौखिक रहने के कारण समयानुसार इसकी कथा-वस्तु, भाषा और शब्दावली में बड़ा परिवर्तन होता चला आया। इसमें अनेक प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के शब्द घुस गए हैं तथा नवीन शास्त्रों और जातियों के नाम भी मिला दिए गए हैं जैसे बन्दूक, किरिच और फिरंगी आदि।

आल्ह खण्ड में महोबा के दो प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल के गौरवान्वित वीर चरित्रों का ओजस्वी भाषा में सुन्दर वर्णन है। यद्यपि काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व नहीं, किन्तु अपने उत्सव वर्धक गान से इसने देश के कोने कोने में जागृति और वीरता की अद्भुत दुंदभी बजाई, जिसकी गुंजार से हिन्दू जाति के अनेक सुषुप्त वीरों में आत्म-गौरव की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। आज भी उत्तर भारत में सर्वत्र ही और विशेषकर बैस-वाड़ा और कन्नौज के आस पास आल्हा का सदैव बड़े उत्साह से गान होता है। रामचरित मानस के पश्चात् सर्व साधारण में 'आल्ह खण्ड' के समान किसी भी अन्य ग्रन्थ का इतना प्रचार नहीं। इसके गान में अलौकिक भावावेश है, उत्साह की अप्रतिम तीव्रता है और संगीत का लययुक्त अनुपम प्रवाह है। वर्णनात्मक होने पर भी साधारणतया वीर रस के अनुरूप उसमें समतुल्य ओज और प्रभावान्विति मिलती है। यद्यपि उसमें पुनरुक्ति और शिथिलता भी है। वास्तव में तब से अब तक यही हमारा वीर-काव्य का सच्चा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। इसने समय समय पर हमारी जाति में जीवन का संचार किया है। उदाहरणार्थ कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

भाला बलछी छूटन लागे पागे मोद शूर त्यहि बार।
अपना परावा कछु सूझै ना आया झोर चलै तलवार॥
कटि कटि कल्ला गिरैं खेत माँ उठि उठि रुण्ड मचावैं भार।
को गति बरणौ त्यहि समया कै नदिया बही रक्त की धार॥
मुण्डन केरे गुड़चौरा में और रुण्डन के लगे पहार।
यहु रणनाहर मल्हनावाला आला मोहबे का सरदार॥

इन वीर गीति-काव्यों के अतिरिक्त कुछ मुक्तक गीत भी इस काल में रचे गए। उनके रचयिता नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोरखनाथ और अमीर खुसरो हैं। गोरखनाथ का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। किन्तु कुछ ऐतिहासज्ञ १४वीं शताब्दी भी मानते हैं। 'भारतीय दन्त कथाओं में गोरखनाथ सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान माने गए हैं। वे मत्स्येन्द्रनाथ के प्रतिद्वन्द्वी थे और गोरखा राज्य के संरक्षक सन्त थे। मत्स्येन्द्रनाथ से रक्षित समीपवर्ती नैपाल राज्य को ये अनेक वर्षों के अथक परिश्रम के बाद अपने संरक्षण में ला सके। इसके बाद इन्होंने मत्स्येन्द्र नाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। तिब्बति जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे और उनके सारे कनफटे शिष्य भी आदि में बौद्ध थे। किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के नाश होने पर ये शैवमत में हो गए।'[1] भारत के धार्मिक इतिहास में गोरखनाथ का बड़ा महत्त्व है। इनका नाथ पन्थ बौद्धों के बज्रयान सम्प्रदाय का ही विकसित रूप है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये शैवमत के अन्तर्गत हैं किन्तु व्यवहार में बहुत कुछ पतंजलि के हठयोग का आभास मिलता है। इस पंथ में ईश्वर की भावना शून्यवाद में मानी गई है, जिसका पूर्णविकास कबीर के रहस्य वाद में मिलता है। गोरखनाथ ने इसी शून्यवाद का प्रचार करने के योग को इतनी महत्ता दी। ये धार्मिक साहित्य के बड़े लेखक माने जाते हैं। उन्होंने संस्कृत और हिन्दी दोनों में रचना की है। किन्तु वे सब सन्दिग्ध हैं। हिन्दी रचनाओं में उनके पद, सिद्धान्त, बानी, कला और संवाद आदि सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हैं। उनके साधना सम्बन्धी अनेक पदों का उनके पन्थियों में प्रचार है। किन्तु भाव या भाषा की दृष्टि से इनके पद कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखते। उनमें प्रवाह ही है, न सरसता ही। भावाभिव्यक्ति में भी कोई रमणीयता नहीं। उनमें हठ योग सम्बन्धी साधना की ही व्यंजना मात्र है। उनके काव्य से तत्का-

---

[1] डा० रामकुमार वर्म्मा।

लीन हिन्दी भाषा के रूप का निश्चय ही सच्चा आभास मिल जाता है क्योंकि वह उस समय से लिपिबद्ध होता चला आया। गोरखनाथ के पदों का नमूना देखिये,—

तत बेली लो तत बेली लो अवधू गोरखनाथ जाणीं।
डाल न मूल पहुप नाहीं छाया बिरधि करे बिन पाणीं॥
काया कुञ्जर तोरी बाड़ी अवधू सत गुरु बेली रूपाणीं।
पुरिष पाणती करै धरियाणों निकवालि धरि आणीं॥
मूल एढ़ा जेढ़ा ससिहर अवधू पान एढ़ा जेढ़ा भाणं।
फल एढ़ा जेढ़ा पूनिम चन्दा जोड जोड जाण सुजाणं॥
बेलड़ि याड़ो लागी अवधू गगन पहूँती झाला।
जिमि जिमि बेली दाझवा लागी तब-मेलै कुपल डाला॥
काटत बेली कूपल मेल्ही सींचत डासी दाये।
मछिंद्र प्रसादै जाति गोरख बोल्या नित नवेलड़ि खाये॥

इनके पश्चात् मनोरजंक साहित्य के जन्म दाता अमीर खुसरो के पद आते हैं। खुसरो (सं० १३१० से सं० १३८२ तक) ने अपनी मौलिक प्रतिभा से साहित्य को मनो-विनोद की नूतन प्रवृत्ति की ओर अभिमुख किया। उन्हों ने हिन्दी को अरबी और फ़ारसी के समान ही समझ कर उसमें भी कविता की। खुसरों इन भाषाओं के साथ साथ संस्कृत का भी महान विद्वान था। वह उच्च कोटि का कवि और गायक एवं वीर योद्धा था। खुसरो ने अपने समय की काव्य-भाषा की उपेक्षा करके जन साधारण की बोल चाल की भाषा में अपने काव्य का स्वाभाविक स्रोत बहाया, जिससे उसमें रस और उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता मिलती है। उन्होंने अरबी, फ़ारसी और हिन्दी के पर्यायवाची शब्दों का एक अनुपम कोष 'ख़ालिकबारी' तैयार किया। उनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं। कुछ भाव पूर्ण दोहे और सरस पद्य भी इनके काव्य में मिलते हैं। इनका काव्य ग़ज़ल, इतिहास, कोष, संगीत, पहेलियाँ आदि कई भागों में विभाजित हैं। खुसरों का संगीत पर भी अधिकार था। कहा जाता है कि बरवा राग में लय रखने

की रीति इन्होंने ही आरम्भ की। कव्वाली में इन्होंने अनेक राग निकाले। वसन्त के पद इनके विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने चलती खड़ी बोली में ही कविता की है किन्तु ये ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया करते थे। जीवन तत्त्व सम्बन्धी ब्रजभाषा का यह पद कितना सुन्दर है,—

विहाग यत

बहुत रही बाबुल घर दुलहन चल तोरे पीने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सों अन्त करी लरकाई॥
न्हाय धोय के बस्तर पहिरे सभही सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुम्ब सब आये सगरे लोग लुगाई॥
चार कहार मिल डोली उठाये संग पुरोहित औ चले नाई।
चले ही बनेगी होत कहा है नैनन नीर बहाई॥
अन्त बिदा होय चलि हैं दुलहिन काहूँ की कछु न बसाई।
मौज खुशी सब देखत रहि गये माता पिता औ भाई॥
मोरि कौन संग लगन धराई धन धन तोहि है खुदाई।
बिन मांगे मेरि मंगनी जो दीन्ही सजनी पर घर की जो ठहराई॥
अंगुरी पकरि मोरा पहुँचा भी पकरे कंगना अंगूठी पहराई।
नौशा के संग कर मोहि दीन्ही लाज संकोच मिटाई॥
सोना भी दीन्हा रूपा भी दीन्हा बाबुल दिल दरियाई।
गहेल गहली डालति आंगन में अचानक पकर बैठाई॥
बैठत मल मल कपरे पहनाए केसर तिलक लगाई।
गुन नहिं एक औगुन बहुतेरे कैसे नौशा रिझाई॥
खुसरो चले ससुरारी सजनी संग नहीं कोई जाई।

अमीर खुसरो के साथ गीति काव्य के इस युग का अन्त होता है।

मध्य काल

मध्य काल न केवल गीति-काव्य के लिए ही वरन् सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्ण युग था। इस काल में हम गीति-काव्य में प्रायः दो ही

प्रवृत्तियाँ पाते हैं। एक तो निर्गुणोपासना में प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद की भावना और दूसरी सगुणोपासना में भक्ति सम्पन्न भावना। अखिल विश्व के कण-कण में व्याप्त सत्ता की प्रेमानुभूति में रहस्यवाद के गीत सन्त कवियों ने गाए जिनमें मुख्य कबीर, नानक, धर्मदास, दादू आदि हैं; और श्रीराम तथा श्रीकृष्ण की भक्ति में अलौकिक तन्मयता के गीत भक्त-कवियों ने गाए जिनमें विद्यापति, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास आदि हैं। साधारणतया सन्त कवि भी भक्त थे और भक्त कवि भी सन्त। इस काल में गीति-काव्य की रचना राग-रागिनियों से बन्धे हुए पदों में हुई। यद्यपि इस काल का गीति-काव्य मुक्तक ही कहा जाता है किन्तु उसकी भी दो श्रेणियाँ हैं—एक विशुद्ध और दूसरी प्रकरण वद्ध। सन्त कवियों के गीत विशुद्ध श्रेणी में आते हैं क्योंकि उनमें विशेषकर विनय और सिद्धान्त निरूपण के ही मुक्त पद हैं। पर भक्त-कवियों ने दोनों श्रेणियों को अपनाया। विनय-सम्बन्धी पदों के साथ साथ उन्होंने कथा-प्रसंग को लेकर भी शृंखलावद्ध, पदों की रचना की है जिनमें 'सूरसागर', 'गीतावली,' कृष्ण गीतावली' आदि सम्मिलित है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी गीति-काव्य विशुद्ध श्रेणी में रचा गया है। इस काल के गीतों को मुख्य कर चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—आत्म-निवेदन सम्बन्धी पद, सिद्धान्त निरूपण के पद, शील-शक्ति और रूप-सौन्दर्य के वर्णनात्मक पद तथा संयोग-वियोग के शृंगारिक पद।

सन्त कवियों की परम्परा यद्यपि कबीर से मानी जाती है क्योंकि सन्त मत के प्रवर्त्तक वही थे, किन्तु उनसे भी पहले महाराष्ट्र और मध्यदेश में

सन्त काव्य

रामानन्द जी और नामदेव जी ने प्रायः उन्हीं प्रवृत्तियों का प्रचार किया। उन्होंने जाति-पांति और ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाकर एक ही परब्रह्म परमेश्वर की उपासना करने की सार्वलौकिक शिक्षा दी, एवं अद्वैतवाद का प्रचार किया। इसी समय रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार हो रहा था। जिसमें विष्णु के अवतार राम और कृष्ण की साकार उपासना

और भक्ति करना था। मुसलमानी शासन के आतंक से भयभीत हिन्दू जाति न आत्म-रक्षा का सर्वोत्तम उपाय भक्ति-भाव को अपनाना ही समझा। जिससे भक्ति की इस धारा को और भी प्रगति मिली। किन्तु देश की सामाजिक दशा विदेशी यवन संस्कृति के प्रभाव से अब भी निश्चित न हो पाई थी। वैमनस्य और कट्टरता का यथावत प्रचार था। एम ओर एकेश्वरवाद और सूफ़ीमत का प्रचार बढ़ रहा था, दूसरी ओर इनके विरोधी वैष्णव धर्म का। सन्त कवियों ने इन दोनों को मिलाकर हिन्दू-मुसलिम संस्कृति और धर्म को एक करना चाहा। फल स्वरूप उन्होंने भ्रातृत्व की भावना से सम्पूर्ण मानव को एक ही खुदा का बन्दा कहा। हिन्दू धर्म से अद्वैत वाद और मुस्लिम धर्म से एकेश्वर वाद तथा सूफ़ीमत से प्रेम तत्त्व लेकर इन कवियों ने अपने रहस्यवाद की प्रतिष्ठा की। साथ ही सामाजिक सुधार को भी अपनाया। अतएव इन कवियों के पदों में दो प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं—आध्यात्मिक भावनाओं के अन्तर्गत हम उनके मत और दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण पाते हैं तथा रहस्यानुभूति में ईश्वर के प्रेम में आत्मा का विरह-मिलन। उन्होंने ईश्वर को पति मान कर आत्मा को उसकी,प्रतिव्रता स्त्री के रूप में माना है। जिससे उनके पदों में शान्त रस के साथ विरह-वियोग के कारण विप्रलम्भ श्रृङ्गार की भी प्रचुरता मिलती है। सन्त कवियों का उद्देश्य भक्ति करना और भेद-भाव को मिटा कर समाज-सुधार करना था। अतएव उन्होंने अपने काव्य का सृजन सरल से सरल भाषा में जन-समाज के लिए किया, जिससे उनके भावों और सिद्धान्तों का तो पर्याप्त प्रचार हुआ किन्तु उसमें काव्य-गुणों का ह्रास हो गया। भाषा भी उनकी अनिश्चित और अपरिमार्जित है जिस पर राजस्थानी, पूर्वी हिन्दी और पंजाबी आदि का समुचित प्रभाव है। सर्व-साधारण के लिए होने के कारण सन्त काव्य प्रायः निम्न श्रेणी के लोगों को ही प्रभावित कर सका और उन्हीं तक सीमित रहा। इन सन्तों की शिष्य-परम्परा अनेक मत-मतान्तरों के साथ अब भी बहुत कुछ फैली हुई है। कुछ सन्त कवियों का विवरण नीचे दिया जाता है।

नामदेव—महाराष्ट्र के एक महान सन्त थे। इनका आविर्भाव काल

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। ये जाति के छीपा थे और दर्जी का व्यवसाय करते थे। बाल्यावस्था से ही ईश्वर की भक्ति में लीन होने लगे थे। जिससे इनका मन सांसारिक व्यवहार में न लगता था। इन्होंने बहुत कुछ पर्यटन किया और जीवन का विशेष भाग पंढरपुर में व्यतीत किया। इन्होंने भक्ति का ख़ूब प्रचार किया। अपने जीवनकाल में ही इनकी देश भर में ख्याति फैल गई थी। सात्विक जीवन और शुद्ध ईश्वर प्रेम में इनकी बड़ी आस्था थी। भक्ति के क्षेत्र से इन्होंने जाति-पांति के भेद-भाव को मिटाने का महान प्रयत्न किया। भक्ति में विह्वल होकर यह बड़े सुन्दर पदों की रचना किया करते थे।

भाई रे इन नैनन हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिन लेखो॥
चरन सोई जो नचत प्रेम से, कर सोई जो पूजा।
सीस सोई जो नवै साधु को, रसना और न दूजा॥
यह संसार हाट की लेखा, सब कोउ बनिजहिं आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया॥
आत्म राम देंह धरि आयो, तामें हरि को देखो।
कहत नामदेव बलि बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखो॥

सदना जी—ये नामदेव के समकालीन थे। जाति के क़साई थे। शालिग्राम के भक्त थे और उसी पत्थर से माँस तोला करते थे। बाद में विरक्त होकर ईश्वर की भक्ति में पूर्णतया लग गए। इनके पदों में भक्ति का मनोहर रस मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि ये उच्च कोटि के भक्त थे—

नृप कन्या के कारने, एक भयो भेष धारी।
कामारथी सुवारथी, वाकी पैज सँवारी॥
तब गुन कहा जगत-गुरा, जो कर्म न नासै।
सिंह सरन कत जाइये, जो जँबुक ग्रासै॥
एक बूँद जल कारने, चातक दुख पावै।
प्रान गये सागर मिलै, पुनि काम न आवै॥

प्रान जो थाके थिर नहीं, कैसे बिरमावो ।
बूढ़ि मुए नौका मिलै, कहु काहि चढ़ावो ॥
मैं नाहीं कछु हौं नहीं, कछु आहि न मोरा ।
औसर लज्जा राख लेहु, सदना जन तोरा ॥

पीपा जी—इनका आविर्भाव पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ। ये गागरौनगढ़ के राजा थे और आदि में दुर्गा के उपासक थे। फिर रामानन्द जी के प्रभाव से विरक्त होकर इन्होंने द्वारिकाधीश की शरण ली। श्रीकृष्ण के साक्षात दर्शनों की अभिलाषा से ये समुद्र में कूद पड़े, किन्तु सात दिन पश्चात् फिर प्रकट हुए। ये भी उच्च कोटि के भक्त माने जाते हैं। इनके पदों में प्रवाह कुछ निखरा हुआ मिलता है—

काया देवा काया देवल, काया जंगम जाती।
काया धूप नैवेद्य, काया पूजों पाती ॥
काया बहु खंड खोजते, नव सिद्धि पाई।
ना कछु आइबो, ना कछु जाइबो, राम की दुहाई ॥
जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे, जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रनवै परम तत्व ही सतगुरु होय लखावै ॥

रैदास जी—ये महात्मा कबीर के समकालीन थे और जाति के चमार थे तथा काशी में चमार का व्यवसाय करते थे। सन्त कवियों में इनके पद विशेष सरस और भाव पूर्ण हैं। इनके गुरू रामानन्द थे और मीराबाई शिष्या थीं। यह एक सिद्ध सन्त माने गए हैं। यद्यपि अपने पदों में सगुण नामों को ही प्रयुक्त किया है किन्तु भावना निर्गुण ब्रह्म की ही है।

अब कैसे छुटै नाम रट लागी ॥टेक॥
प्रभु जी तुम चंदन हम पानी। जाकी अंग अंग बास समानी ॥
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती ॥
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभु जी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

कबीर दास जी—(सं० १४५५ से सं० १५७५)—इनके जीवन के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। इतना अवश्य है कि ये काशी में रहते थे। मुसलमान जुलाहे के घर इनका पालन पोषण हुआ था, जिससे इनपर इस्लाम का समुचित प्रभाव पड़ा। साथ ही इन्होंने रामानन्द जी का शिष्य होने के कारण हिन्दू संस्कृति को भी अपनाया। बाल्यकाल से ही ये हिन्दू-भक्ति-भाव से राम का जप किया करते थे। किन्तु इनके राम निर्गुण ब्रह्म, सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान निर्गुण-सगुण से परे शून्यलोक वासी थे। इन्होंने कबीर पंथ नाम से अपना अलग पंथ चलाया, जिसमें हिन्दू-मुसलमान सबही अनुयायी हुए। उच्च कोटि के भक्त होने के साथ कबीर कट्टर समाज सुधारक भी थे। ढोंग से उन्हें चिढ़ थी। इसी कारण उन्होंने हिन्दुओं के तीरथ, व्रत, मूर्तिपूजा और मुसलमानों के रोज़ा-नमाज़ आदि का घोर विरोध किया। उनका उद्देश्य जाति-पांति के वैमनस्य को मिटा कर हिन्दू-मुसलमानों को एक सूत्र में बांध देना था। और वह सूत्र था उनका 'निर्गुण पंथ' जिसमें दोनों धर्मों का तत्त्व मिलाकर उन्होंने प्रेम और भक्ति का अलौकिक संचार किया। ज्ञान मार्ग में माया, ब्रह्म, जीव, जन्मजन्मान्तरवाद, अहिंसा, त्रिकुटी आदि का ज्ञान उन्होंने हिन्दू साधु-सन्यासियों की संगति में प्राप्त किया तथा ऐकेश्वरवाद और प्रेमतत्त्व इस्लाम और सूफ़ीमत से लिया।

सन्त कवियों में कबीर साहब का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं, किन्तु उन्होंने अपनी महान प्रतिभा से देश को प्रेम के सन्देश से एक करके ईश्वर की परम भक्ति की ओर झुकाया। कबीर का गीति-काव्य बहुत व्यापक, भाव-पूर्ण, प्रभावशाली और सरल है। सिद्धान्त निरूपण और कर्त्ता-निर्णय सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त रहस्यवादी पद उनके बहुत सुन्दर हैं। उनकी आत्मा मीरा की भाँति ही परम प्रकाशमान ब्रह्म के वियोग में व्यथित हो कर रहरह कर कलपती रहती है! यही गीत उनके आदर्श गीत कहे जा सकते हैं। भाव की सुकुमारता के साथ भाषा भी बहुत कुछ लचीली और प्रवाह पूर्ण है। उनमें उनकी भावाभिव्यक्ति और आर्त आत्म-निवेदन से विशेष प्रभाव आ गया है।

उनके गीतों का महत्त्व उनके भावों, विचारों और सन्देश में ही है।

धर्मदास (सं० १४७५)—ये बांधवगढ़ निवासी एक बनिए थे। कबीर के प्रधान शिष्य थे और कबीर के पश्चात् कबीर पंथ की गद्दी इन्हीं को मिली। बाल्यावस्था से ही इनमें भक्तिभाव जागृत हो गया था। पहले ये सगुणोपासक भक्त थे, किन्तु कबीर से भेंट होने पर इन्होंने उनसे 'सत्यनाम' की दीक्षा ली और उन्हीं के पंथ में हो गए। इनका सन्तों में बड़ा सम्मान है और इनके शब्द भी बहुत प्रचलित हैं। भाषा भी इनकी कबीर की अपेक्षा कोमल और भावपूर्ण है। इन्होंने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनकी पदावली में रहस्यवाद और प्रेमतत्त्व का ही प्राधान्य है, यद्यपि होली, वसन्त, बारहमासा आदि पर भी लिखा है। विरह सम्बन्धी इनके भी अनेक पद मिलते हैं। ये उच्चकोटि के भक्त और पूर्ण संत थे। इनके पदों में संगीत का अधिक प्रवाह है और भाषा स्वाभाविक है।

नैन दरस बिन मरत पियासा ॥टेक॥
तुमहीं छाड़ि भजूँ नहिं औरै, नाहिं दूसरी आसा ॥
आठो पहर रहूँ कर जोरी, करि लेहु आपन दासा ॥
निसु बासर रहूँ लव लीना, बिनु देखे नहिं बिस्वासा ॥
धरमदास बिनवै कर जोरी, द्यो निज लोक निवासा ॥

गुरु पैयाँ लागौं नाम लखा दीजो रे ॥टेक॥
जनम जनम का सोया मनुवाँ, सबदन मार जगा दीजो रे ॥
घट अँधियार नैन नहिं सूझै, ज्ञान का दीप जगा दीजो रे ॥
विष की लहर उठत घट अंतर, अमृत बूँद चुवा दीजो रे ॥
गहिरी नदिया अगम बहै धरवा, खेय के पार लगा दीजो रे ॥
धरमदास की अरज गुसाईं, अब के खेप निभा दीजो रे ॥

गुरुनानक—(सं० १५२६-९६)—इनका जन्म तिलवंडी जिला लाहौर में हुआ था। ये सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक थे। जाति के खत्री और बालपन से ही धर्म परायण और विचारशील थे। आरम्भ में इन्होंने कुछ समय तक नौकरी की। तभी से यह भजन बना बनाकर गाया करते थे। आत्म-ज्ञान

होने पर विरक्त होकर इन्होंने दूर देशों और तीर्थस्थानों का भ्रमण किया। और अपने सिद्धान्तों का गा गाकर प्रचार किया। अन्त में पंजाब में आकर कबीरदास के निर्गुण पंथ का प्रचार किया। भक्ति में विह्वल होकर ये भजन गान किया करते थे। इन्हीं गीतों का संग्रह 'ग्रंथ साहब' कहलाता है। जिसमें अनेक सन्तों की वाणियाँ भी संग्रहित हैं। इनकी भाषा कहीं पंजाबी है, कहीं ब्रजभाषा, खड़ी बोली और पंजाबी मिश्रित साधारण हिन्दी। ये भी कबीर की भाँति अशिक्षित थे। अतएव भाषा बहुत सरल, सीधी-साधी और भाव भी ऐसे ही हैं। इनके पद विशेष कर भक्ति, संसार की अनित्यता और सात्विक-भाव सम्बन्धी ही मिलते हैं।

काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई॥
पुष्प मध्य ज्यौं बास बसत है, मुकर माहिं जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घर ही खोजो भाई॥
बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई॥

हरि जू राखि लेहु पत मेरो ॥टेक॥
काल को त्रास भयो उर अंतर, सरन गह्यो अब तेरो।
भय मरने को बिसरत नाहीं, तेहिं चिंता तन जारो॥
किये उपाय मुक्ति के कारन, दह दिसि को उठि धाया।
घट ही भीतर बसै निरंतर, तो भी मर्म न पाया॥
नाहीं गुन नाहीं कछु जप तप, कौन करम अब कीजै।
नानक हार पर्‌यो सरनागत, अभय दान अब दीजै॥

मलूकदास (सं० १६३१—१७३६)—इनका जन्म कड़ा (इलाहाबाद) में लाला सुन्दर दास खत्री के घर हुआ था। मलूकदास निर्गुण पंथियों में प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं। इनमें भक्तकवि की प्रतिभा बचपन से ही प्रतिभासित होने लगी थी। इनकी अलौकिक भक्ति और शक्ति के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। इनके कई चेले थे और गद्दियाँ तो देश में चारों ओर

फैली हैं—कड़ा, जयपुर, गुजरात, इसफ़हाबाद, मुल्तान, पटना, सीताकोपल (दक्षिण), और नैपाल तथा काबुल तक में मिलती हैं। इनके पदों की भाषा सुव्यवस्थित और सरस है। ओज और स्वाभाविकता की पर्याप्त मात्रा है। अरबी और फ़ारसी के शब्दों का स्वाभाविक-सा प्रयोग किया है। पदों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ कवित्त भी लिखे हैं जो बहुत भावपूर्ण हैं।

तेरा मैं दीदार दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहिब रहमाना॥
हुआ अलमस्त ख़बर नहिं तन की, पीया प्रेम पियाला।
ठाढ़ होउँ तो गिरि गिरि परता, तेरे रँग मतवाला॥
खड़ा रहूँ दरबार तुम्हारे, ज्यों घर का बंदाजादा।
नेकी की कुलाह सिर दीये, गले पैरहन साजा॥
तौजी और निमाज न जानूँ, ना जानूँ धरि रोजा।
बाँग जिकिर तबही से बिसरी, जब से यह दिल खोजा॥
कहैं मलूक अब कजा न करि हौं, दिल ही सों दिल लाया।
मक्का हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया॥

दादू दयाल (सं० १६५८)—दादू पंथी इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और जनश्रुति धुनियाँ। कबीर के सिद्धान्तों से साम्य रखते हुए भी इन्होंने अपना अलग 'दादू पंथ' चलाया। इनके ५२ शिष्य थे जिन्होंने ५२ ही दादू-द्वारों की स्थापना की। इनका मुख्य केन्द्र राजस्थान ही है। इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था किन्तु जीवन राजस्थान के नराना और भराना नामक स्थानों में व्यतीत हुआ। इन्होंने लगभग ५००० पद्यों की रचना की जिनमें से अधिकतर मौखिक हैं। दादू पंथी वैरागी और गृहस्थी दोनों रूपों में मिलते हैं। भाषा राजस्थानी से प्रभावित पश्चिमी हिन्दी है। खड़ी बोली की भी पुट मिलती है। इनके धर्म-सिद्धान्त और काव्य-विषय सन्त परम्परा के अनुसार ही हैं। प्रेम और भक्तिभाव के पद सरस और गंभीर हैं।

हरि रस माते मगन भये।
सुमिरि सुमिरि भये मतवाले, जामण मरण सब भूलि गये॥

निर्मल भगति प्रेम रस पीवैं, आन न दूजा भाव धरैं।
सहजैं सदा राम रँगि राते, मुकुति बैकुंठ कहा करैं॥

अजहूँ न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर॥
चार पहर चारहु जुग बीते। रैन गवाँई भोर॥
अवध गए अजहूँ नहीं आये। कतहू रहे चितचोर॥
दादू अइसहि आतुर बिरहिनि। जइसहि चंद चकोर॥

सुन्दरदास (सं० १७१०—४६ वि०)—इनका जन्म जयपुर के द्यौसा नमक ग्राम में हुआ था। ये खंडेलवाल बनिये थे। और दादू के शिष्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। अन्य सन्त कवियों की भाँति थे अशिक्षित न थे। इन्होंने काशी में वेद-वेदांगों के सहित काव्य-शास्त्र का भी गहन अध्ययन किया था, जिससे इनके काव्य में बहुज्ञता, पाण्डित्य और काव्य-कला की उत्कृष्टता का पूर्ण पता चलता है। भक्त के साथ ये कवि भी उच्चकोटि के थे। इन्होंने राग-रागिनियों से युक्त पदावली के अतिरिक्त उच्चकोटि के साहित्यिक कवित्त और सवैये ही अधिक रचे हैं। इनका हिन्दी गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी, संस्कृत और फ़ारसी पर समान अधिकार था। इनका काव्य सर्वत्र साहित्यिक, परिमार्जित और सरस एवं भावपूर्ण है। इनकी-सी भाव-विविधता अन्य सन्त कवियों में कम ही मिलती है।

देषौ भाई आज भलौ दिन लागत।
बरिषा रितु को आगम आयौ बैठि मलारहि रागत॥
रामनाम के बादल उनये घोरि घोरि रस पागत।
तन मन माँहि भई शीतला गये विकार जुदागत॥
जा कारन हम फिरत वियोगी निशदिन उठि उठि जागत।
सुंदरदास दयालप्रभु सोह दियौ जोह माँगत॥

अपने भावतें सूर सौ दीषत आपुने भावतें चंद्र सौ भासै।
अपने भावतें तारे अनंत जु आपुने भावतें विद्युलतासै॥
अपने भावतें नूर है तेज है आपुने भावतें ज्योति प्रकासै।

तैसौहि ताहि दिषावत सुन्दर जैसौहि होत है जाहि कौ आसै ॥

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में भी संत-कवियों की परम्परा बराबर बनी रही। अब भी इन कवियों के गीतों की भाव-भाषा में विशेष परिवर्तन न हुआ। वे अपनी उद्देश्य-परम्परा पर ही पद रचना करते चले आए। इनमें मुख्य मुख्य सन्त ये हैं—धरनीदास, यारी साहब, दरिया साहब (बिहार वाले तथा मारवाड़ वाले), बुल्ला साहब, केशवदास, चरनदास, पलटूसाहब और तुलसी साहब इत्यादि, इनके कुछ पद नीचे दिये जाते हैं :—

धरनी दास (सं० १७१३)

हरिजन हरि के हाथ बिकाने।
भावै कहो जग धृग जीवन है, भावै कहौ बौराने॥
जाति गँवाय अजाति कहाये, साधु संगति ठहराने।
मेटो दुख दारिद्र परानो, झूठन खाय अघाने॥
पाँच जने परबल परपंची, खलटि परे बेदिखाने।
छुटो मजूरी भये हजूरी, साहब के मन माने॥
निरममता निरबैर सभन तैं, निरसंका निरबाने।
धरनी काम राम अपने तैं, चरन कमल लपटाने॥

यारी साहब (सं० १७२५)

हौं तो खेलौं पिया सँग होरी ॥१॥
दरस परस पति बरता पिय की, छबि निरखत भई बौरी॥
सोरह कला सँपूरन देखौं, रबि ससि भेइक ठौरी॥
जब तें दृष्टि परो अबिनासी, लागो रूप ठगौरी॥
रसना रटत रहत निस बासर, नैन लगो यहि ठौरी॥
कह यारी भक्ती करु हरि को, कोई कहै सो कहौ री॥

दरिया साहब (बिहार वाले सं० १७३१)

अबके बार बकस मोरे साहब। तुम लायक सब जोग है॥
गुनह बकसिहौ सब भ्रम नसि हों। रखिहौ आपन पास है॥

अछै बिरिछि तरि लै बैठै हो। तहवाँ धूप न छाँह हे ॥
चाँद न सुरज दिवस नहिं तहवाँ। नहिं निसु होत बिहान हे ॥
अमृत फल मुख चाखन दैहौ। सेज सुगन्धि सुहाय हे ॥
जुग जुग अचल अमर पद दै हौ। इतनी अरज हमार हे ॥
भौ सागर दुख दासन मिटि है। छुटि जैहै कुल परिवार हे ॥
कह दरिया यह मँगल मूला। अनूप फूलै जहाँ फुल हे ॥

दरिया साहब (मारवाड़ वाले सं० १६३३)

नाम बिन भाव करम नहिं छूटै ॥टेक॥
साध संग औ राम भजन बिन, काल निरंतर लूटै ॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै ॥
प्रेम का साबुन नाम का पानी, दुई मिलि ताँता टूटै ॥
भेद अभेद भरम का भाँडा, चौड़े परि परि फूटै ॥
गुरु मुख सबद गहै उर अन्तर सकल भरम से छूटै ॥
राम का ध्यान धरहु रे प्रानी, अमृत का मेंह बूटै ॥
जन दरियाव अपर ये आया, जरा मरन तब टूटै ॥

बुल्ला साहब (सं० १७५०)

देखो पिया काली घटा मोपै भारी ॥
सूनी सेज भयावन लागी, मरौं बिरह को जारी ॥
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पलछिन नाहिं बिसारी ॥
चितवत पंथ अंत नहिं पायो, जन बुल्ला बलिहारी ॥

केशवदास (सं० १७५०)

निरमल कंत हम पाया। कोटि सूर जाकी निर्मल काया ॥
प्रेम बिलास अमृत रस भरिया। अनुभौ चँवर रैन दिन ढरिया ॥
आनँद मंगल सोहं गावैं। सुख सागर प्रभु कंठ लगावैं ॥
सत्य पुरुष धुनि अति उजियारी। कोटि भानु ससि छबि पर वारी ॥
तेज पुञ्ज निर्गुन उजियारा। कह केसो सोइ कंत हमारा ॥

गरीबदास (सं० १७७४)

सुनिये संत सुजान गरब नहिं करना रे ॥टेक॥
चार दिनाँ की चिहर बनी है, आखिर तोकूं मरना रे ॥
तू जाने मेरि ऐसी निभेगी, हरदम लेखा भरना रे ॥
खाय ले पी ले बिलस ले हंसा, जोरि जोरि नहिं धरना रे ॥
दास गरीब सकल में साहिब, नहीं किसी सूँ अड़ना रे ॥

तुलसी साहब (सं० १८४५)

जिन हिरदे गुरु संत नहीं। उन नर औतार लिया न लिया ॥
सूरत बिमल बिकल नहिं जाके। बहु बक ज्ञान किया न किया ॥
करम काल बस उद्र निहारा। जग बिच मूढ़ जिया न जिया ॥
अगम राह रस रीति न जानी। बहु सतसंग किया न किया ॥
नाम अमल घट घोंटि न पीया। अमल अनेक पिया न पिया ॥
मोरे मात जात जिंदगी में। सिर धरि पैर छुवा न छुवा ॥
तुलसीदास साध नहिं चीन्हा। तन मन धन न दिया न दिया ॥

पलटू साहब (सं० १८५०)

साहिब के दास कराय यारो, जगत की आस न राखिये जी।
समरथ स्वामी को जब पाया, जगत से दीन न भाखिये जी।
साहिब के घर में कौन कमी, किस बात की अंतै आखिये जी।
पलटू जी दुख सुख लाख परै, यहि नाम सुधा रस चाखिये जी।

अतः सन्त कवियों के पदों में वस्तु-तत्व की ही प्रधानता है, जिससे ऊहा-पोह के कारण प्रगीतत्व का ह्रास हो गया है। भावोद्रेक, भाषा-लालित्य, और संगीत का प्रायः अभाव ही मिलता है। कबीरदास के अतिरिक्त सुन्दर दास को छोड़ कर किसी भी अन्य कवि के गीतों में मौलिकता के दर्शन नहीं होते। सबने उन्हीं विचारों को शब्द परिवर्तन से व्यक्त किया है। मत और सिद्धान्तों का निरूपण ही विशेष कर मिलता है।

हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य के जन्मदाता विद्यापति हैं। विद्यापति ने अपने काव्य का आधार जयदेव के गीत गोविन्द को मान कर राधा-कृष्ण की प्रेम-माधुरी के गीत गाए। अतएव भारतीय साहित्य में

कृष्ण-काव्य

जयदेव ने ही, कृष्ण-काव्य की प्रतिष्ठा की। जयदेव निम्बार्काचार्य के शिष्य थे। यहाँ यह बतला देना भी समीचीन होगा कि संत कवियों की निराकार भक्ति भावना के साथ साथ उत्तर भारत में साकार भक्ति का भी प्रचार हो रहा था। इस भक्ति के प्रचारक दक्षिण के चार वैष्णव आचार्य थे। (१) रामानुजाचार्य (सं० १०७४—११६४) ने विष्णु या नारायण की भक्ति का प्रचार किया और ज्ञान को भी अपनी भक्ति में सम्मिलित किया। इनके शिष्य रामानन्द (चौदहवीं शताब्दी) ने विष्णु या नारायण की राम के अवतार में भक्ति-भावना को सजग किया। (२) निम्बार्काचार्य (बारहवीं शताब्दी) ने राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। कृष्ण के साथ राधा को भी महत्ता दी। ये राधा-कृष्ण के अतिरिक्त और किसी देवी-देवता को नहीं मानते थे। इनके अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं और राधा तथा अन्य गोपियाँ उन्हीं से उत्पन्न हुई हैं। (३) मध्वाचार्य (सं० १३१४) ने कृष्ण को ही सर्वशक्तिमान माना। कृष्ण ही ब्रह्म हैं। राधा को इनके सम्प्रदाय में स्थान नहीं। और (४) विष्णुस्वामी (सं० १३७७) ने भी कृष्णके साथ राधा की भक्ति का आदेश दिया। इन आचार्यों के सम्प्रदाय इन्हीं के नामों से प्रचलित हैं।

वैष्णव-भक्ति के प्रचार में सब से अधिक कार्य चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य जी ने किया। विष्णु स्वामी और निम्बार्क के प्रभाव से इन्होंने राधा की भक्ति में प्रेमोपासना को महत्ता दी। वास्तव में वल्लभाचार्य जी के आविर्भाव (सं० १५३६—८७) से ही उत्तर भारत में भक्ति की परम पावन धारा प्रवाहित हुई, जिसमें हिन्दी साहित्य के इस विशाल काव्य का सृजन हुआ। वल्लभाचार्य जी वेद-शास्त्रों के धुरंधर विद्वान थे। अल्पायु में ही इन्होंने दार्शनिक वाद-विवाद कर अपने शुद्धाद्वैत-वाद का प्रचार किया। इनके अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द युक्त है।

किन्तु वह अपनी इच्छानुसार इन गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से प्रकृति एवं जीव की सत्ता स्थापित करता रहता है पर वे ब्रह्म के स्वरूप ही हैं। श्रीकृष्ण को उन्होंने यही परब्रह्म माना है। माया इसी सत्ता की शक्ति है। जीव इन गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से छूटने पर ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है किन्तु जो बिना परब्रह्म के अनुग्रह के नहीं हो सकता। और इस अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए उन्होंने भक्ति को अपेक्षित माना है। अतएव इस प्रकार की भक्ति जिसको प्राप्त करने के लिए स्वयं श्रीकृष्ण के अनुग्रह की आवश्यकता है उनके मतानुसार 'पुष्टि' कहलाती है। इसी पुष्टि मार्ग का हमारे भक्त-कवियों ने अनुसरण किया है। पुष्टि मार्ग भी कई प्रकार के हैं किन्तु वल्लभाचार्य जी ने शुद्ध पुष्टि को ही सर्वश्रेष्ठ माना है, जिसमें केवल प्रेम और अनुराग के आधार पर श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर हृदय में श्रीकृष्ण की अनुभूति होती है।[1] अतएव भक्त-कवियों की भक्ति में ज्ञान की उपेक्षा है और प्रेम-तत्त्व की प्रधानता है।

श्रीराधा-कृष्ण की भक्ति कई रूपों में मिलती है। जब भक्त अपने आराध्य का चिन्तन करता है, उसकी विनती करता है, निवेदन करता है, तो वह भक्ति शान्त भाव की कहलाती है। दास्य भाव की भक्ति में भक्त आराध्य को स्वामी मानकर उसकी सेवा करता है। सख्य भाव में वह अपने आराध्य से मित्रवत व्यवहार करता है। वात्सल्य में वह माता-पिता की भाँति आराध्य के बाल रूप की स्नेह युक्त भक्ति करता है और माधुर्य भाव में आराध्य को पतिरूप में मान कर अपने आपको उसकी पत्नी की कल्पना करता है—वह पूर्णरूप से दाम्पत्य-प्रेम का अनुभव करता है। कृष्ण काव्य में प्रायः सभी प्रकार की भक्ति मिलती है। इसका कारण यह है कि कृष्ण के रूप में सौन्दर्य के सम्पूर्ण उपादान हैं और मधुर रति की पूर्ति कृष्ण में ही होती है। इन सब में परम भाव की भक्ति का गीति-काव्य में बाहुल्य मिलता है। क्योंकि गीति-काव्य हृदय की वस्तु है और हृदय स्त्रियों का अधिक सुकुमार होता

---

[1] डा० रामकुमार वर्मा

है। उनमें प्रेमानुभूति की मात्रा अधिक होती है। अतएव परम-भाव से भक्ति करने में भक्त को अधिक तन्मयता प्राप्त होती है, जिससे उसके पदों में वही भाव प्रवाहित हुआ करता है। संत कवियों की भक्ति भी इसी प्रकार की थी। अन्य कवियों ने सख्य भाव को अधिक अपनाया है।

अतएव हमारे गीति-काव्य का विशेष भाग राधा-कृष्ण की भक्ति पर ही अवलम्बित है। इस काल के कुछ कवियों का वृत्तान्त दिया जाता है :—

विद्यापति (सं० १४४५ से १५३२ के उपरान्त तक)—ये दरभंगा ज़िले में बिसपी ग्राम के रहने वाले थे। इनके पिता गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर सिंह के राज सभा सद थे। विद्यापति स्वयं भी मिथिला के कई राजाओं के आश्रित थे। जिनमें मुख्य राजा शिव सिंह और उनकी रानी लखिमा देवी थीं। विद्यापति अपने पूर्वजों की भाँति ही धुरंधर विद्वान थे। बाल्यावस्था में ही इनकी कवित्व शक्ति का प्रकाश चारों ओर फैल गया था। इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे और अवहट्ट अर्थात् साहित्यिक अपभ्रंश में भी। किन्तु पदावली जिससे इनको मिथिला में और विशेष कर गीति-काव्य में अमर पद प्राप्त हुआ जन सामान्य की प्रचलित भाषा मैथिली में ही रची गई है। इसी कारण इनको हिन्दी का कवि माना गया है। विद्यापति शैव थे, यद्यपि इनकी पदावली में राधा कृष्ण सम्बन्धी पद ही अधिक मिलते हैं। आश्रित कवि होने के कारण इन्हों ने पदों की रचना विशेष कर दरबारियों के मनोरंजन के लिए ही की। राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में इन्होंने उनके शृंगारिक जीवन का नग्न चित्रण किया है जिसमें वासना और अश्लीलता दोनों का यथेष्ट समावेश है। जो एक सच्चे भक्त के लिए कभी भी अपेक्षित नहीं है। जीवन के अन्तिम काल में इनमें सच्ची भक्ति का उदय हुआ और उन्होंने शिव-पार्वती को अपनाकर कल्याणकारी पदों की रचना की। राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृंगारिक पद केवल गाने बजाने वालों और विलास प्रिय स्त्रियों में ही विशेष प्रचलित हैं, किन्तु शिव की नचारियों का अब भी शिव-मन्दिरों में नित्य गान होता है।

विद्यापति के पदों में शब्द और भाव-माधुर्य का अनुपम सामंजस्य है

गीतों में प्रेम-तत्त्व के कारण हृदय पक्ष प्रधान है। सर्वत्र ललित और रसपूर्ण हैं। विद्यापति के काव्य से मिथिला और मैथिली दोनों में माधुर्य और सरसता का अमर स्रोत बह निकला। इनके पश्चात् और भी अनेक कवि हुए हैं जिनमें गोविन्ददास, उमापति, नारायण आदि प्रमुख हैं। गोविन्द दास भाषा लालित्य और और काव्य-कला में विद्यापति से उच्च हैं तो विद्यापति भाव-सौन्दर्य में कमाल रखते हैं।

सूरदास (सं० १५४०—१६४२)—हिन्दी गीति-काव्य के सर्वेसर्वा, और धनी हैं। 'चौरासी वैष्णव' की टीका के अनुसार इनका जन्म रुनकता गाँव में हुआ जो आगरा-मथुरा वाली सड़क पर है। इनके पिता का नाम रामदास था और ये सारस्वतब्राह्मण थे। इनकी जीवनी के विषय में अनेक अलौकिक कथाओं का प्रचार है। 'भक्तमाल' के अनुसार सूरदास जी गऊघाट पर रहा करते थे जो मथुरा आगरे के बीच है। वहीं इन्होंने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ली और उनकी आज्ञा से श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गा गा कर भक्ति का प्रचार करने लगे। इन पदों का संग्रह ही 'सूरसागर' कहलाता है। श्री वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि मार्ग के सर्व श्रेष्ठ आठ भक्त-कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की रचना की। इन कवियों में सूरदास जी का स्थान सर्वोपरि है। कृष्ण-काव्य में अष्टछाप की ही प्रवृत्तियाँ सर्वत्र मिलती हैं। इनके पदों को छः श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) आत्म-निवेदन और विनय के पद, (२) राधा-कृष्ण के बाल और यौवन के वर्णनात्मक पद, (३) गोपियों के विरह-वियोग सम्बन्धी पद, (४) गुरू-प्रशंसा के पद, (५) यमुना-यश गान के पद तथा (६) विविध विषयक। जिनमें विशेषकर शान्त, वात्सल्य और शृंगार रस ही प्रचुरता से मिलते हैं। सूरदास जी के पदों में आत्म-परितोष और भक्ति की प्रबल धारा होने के कारण गोस्वामी तुलसीदास की भाँति लोकरंजन भावना का अभाव है। यह बात बहुत आवश्यक है कि सूरदास जी ने ब्रज-भाषा को अपनाकर उसे साहित्यिक कलेवर देकर माधुर्य और काव्य-कला से ओत-प्रोत कर दिया। जिससे ब्रजभाषा भविष्य में कम से कम चार शताब्दियों

तक सार्व-लौकिक साहित्यिक भाषा बनी रही। अपनी विशेष लचक और माधुरी के कारण उस काल के गीति-काव्य में तो और किसी अन्य भाषा का प्रयोग तक नहीं मिलता। यहाँ तक कि अवधी के अधिष्ठाता गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीति-काव्य में सर्वत्र ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। अतएव हम कह सकते हैं कि गीति-काव्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त भाषा ब्रजभाषा ही रही। यहाँ तक कि आधुनिक काल में भारतेन्दु जी, सत्य नारायण जी और श्रीधर पाठक आदि ने भी ब्रजभाषा में ही पदों को गाया। इसका श्रेय सूरदास जी ही को है। यद्यपि सूरदास जी का क्षेत्र तुलसीदास की भाँति व्यापक नहीं किन्तु उन्होंने वात्सल्य और शृङ्गार रस में विश्वभर के कवियों में अद्वितीय पद प्राप्त किया है। संगीत के ये उच्चकोटि के ज्ञाता थे। गऊघाट पर सूरदास जी श्रीनाथ और नवनीत प्रिया जी के सामने भक्ति में तन्मय होकर संकीर्तन किया करते थे जिससे इनके पदों में अलौकिक सुकुमारता और संगीत का समावेश हुआ है। सूरदास जी में गीति-काव्य का चरम-विकास है। अष्टछाप के अन्य कवियों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

नंददास—जी सूरदास और तुलसीदास जी के समकालीन थे। इन्होंने विट्ठलनाथ जी से पुष्टिमार्ग में दीक्षा ली। अष्टछाप के कवियों में सूरदास जी के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। ये काव्य-कला मर्मज्ञ और गायक थे। जिससे इनके काव्य में उत्कृष्ट काव्यत्व और भावाभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु उनमें 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमर गीत' ही विशेष प्रसिद्ध हैं। राग रागिनियों से पूर्ण मुक्तक पदों की भी यथेष्ट रचना की है। राम-कृष्ण की भक्ति में यह पद कितना संगीतमय है—

> राम कृष्ण कहिये निसि भोर।
> वे अवधेस धनुष धरे वे ब्रज जीवन माखन चोर।
> उनके छत्र चमर सिंहासन भरत शत्रुहन लछमण जोर॥
> उनके लकुट मुकुट पीताम्बर गायन के संग नंद किसोर॥
> उन सागर में सिला तराई उन राख्यो गिरधर नखकोर॥
> 'नंददास' प्रभु सब तज भजिये जैसे निरतत चंद्रचकोर॥

आज मेरे घर आए री नागर नंदकिसोर।
धन दिवस धन रात री सजनी धन भाग सखि मोर॥
मंगल गावो चौक पुरावो बन्दनवार धावो पौर।
'नंददास' प्रभु संग रसवस कर जागत कर दूँ भोर॥

कृष्णदास जी (सं० १६०० वि० के लगभग)—श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। अपनी कृष्ण-भक्ति के कारण शूद्र होते हुए भी ये वल्लभाचार्य जी के प्रधान शिष्य हुए। इन्होंने विशेषकर शृंगार रस के पद ही गाए हैं। 'जुगलमान-चरित्र' नामक रचना का भक्तों में अधिक सम्मान है। 'भ्रमर गीत और प्रेम तत्व निरूपण' ये दो पुस्तकें और मिलती हैं। इनके पद काव्य-कला में सूर और नन्द से निम्न कोटि के हैं।

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो।
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यो।
'कृष्णदास' किये प्राण निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥

परमानन्द दास (सं० १६०६ के लगभग)—श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। भक्तों में इनका उच्च स्थान है। तन्मयता और भक्ति की विह्वलता में ये बड़े ही सरस और भावपूर्ण पद गाया करते थे। जिनका भक्तों में अब भी प्रचार है। शृंगार रस में संयोग पक्ष के साथ वियोग पक्ष को भी अपनाया है :—

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिनु गोपाल ठगे-से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे॥
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ-सकारे;
जो कोई कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे।
यह मथुरा काजर को रेखा, जे निकसे ते कारे।
'परमानन्द' स्वामी बिनु ऐसे, ज्यों चंदा बिनु तारे॥

कुम्भन दास (सं० १६०७ के लगभग)—ये संसार से पूर्णतया विरक्त थे। श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे और कवि होने के साथ साथ गायक भी उच्चकोटि के थे।

> माई गिरिधर के गुण गाऊँ।
> मेरे तो व्रत यहै निसि दिन और न रुचि उपजाऊँ ॥
> खेलन आंगन आउ लाडिले नेकहुँ दर्शन पाऊँ।
> 'कुंभनदास' इह जग के कारण लालच लागि रहाऊँ ॥

चतुर्भुज दास—ये कुम्भनदास के पुत्र और श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनकी भाषा सरल, स्वाभाविक और सुव्यवस्थित है। पदों में विशेषकर कृष्ण-लीला का ही गान किया है।

> मंगल आरती गोपाल की।
> नित उठि मंगल होत निरखि मुख चितवन नैन विशाल की ॥
> मंगल रूप स्याम सुन्दर को मंगल छबि भृकुटी भाल की।
> 'चतुर्भुजदास' सदा मंगल निधि बानिक गिरधर लाल की ॥

छीत स्वामी (सं० १६१२)—श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे। अष्ट छाप में इनका आदरणीय स्थान है। पहले ये राजा बीरबल के पण्डा थे किन्तु बाद में पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर परमशांत भक्त हो गए। इनके पद सरस और प्रेमानुभूति से युक्त हैं। इनकी विशेषता हैं ब्रज-भूमि के प्रति प्रेम की अभि-व्यक्ति, जिसका आजकल देश-प्रेम के रूप में विशेष प्रचार है।

> मेरी अँखियन के भूषण गिरधारी।
> बलि बलि जाऊँ छबीली छवि पर अति आनंद सुखकारी ॥
> परम उदार चतुर चिन्तामणि दास परस दुख हारी।
> अतुल सुभाव तनक तुलसीदल मानत सेवा भारी ॥
> 'छीत स्वामी' गिरिधर विशद यश गावत कुलनारी।
> कहा वरण गुण गाथ नाथ के श्री विट्ठल हृदय विहारी ॥

गोविन्द स्वामी (सं० १६१२ वि०)—श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे और महाबन में वास करते थे। ये उच्चकोटि के गायक भी थे। यहाँ तक कि तानसेन भी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे। अतएव इनके पदों में संगीत का विशेष प्रवाह है।

कहा करौं बैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहिं कुंज लता अलि कोकिल मंद सुगंध न वायु बहाय॥
नहीं वहाँ सुनियत श्रवनन बंसी धुन,कृष्ण न मुरत अधर लगाए।
सारस हंस मोर नहिं बोलत तहँ को बसिबो कौन सुहाय॥
नहीं वहाँ वृज वृंदाबन बीथन, गोपी नंद जसोदा माय।
'गोविन्द' प्रभु गोपी चरनन की वृज रज तनि वहाँ जाय बलाय॥

यमुना जी पर एक पद नीचे दिया जाता है—

जमुना जी अधम उधारन मैं जानी।
गोधन संग स्याम घन सुन्दर तीर त्रिभंगी दानी॥
गंगा चरन परस तें पावत हरसिर चिकुर समानी।
सात समुद्र भेदि जम-भगनी हरि नख सिख लपटानी॥
आलिंगन चुम्बन रस विलसित प्रेम पुंज ठकुरानी।
गोविन्द प्रभु रवि-तनया प्यारी भक्ति मुक्ति की खानी॥

मीरांबाई (सं० १५५५—१६३०)—कृष्ण-भक्तों में मीरांबाई का स्थान सूरदास के पश्चात् ही माना जा सकता है। किन्तु स्त्री भक्तों में भारत में तो क्या संसार भर में वे अद्वितीय हैं। मीरांबाई सूरदास और तुलसीदास की समकालीन थीं। ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री और राव दूदा जी की पौत्री थीं। इनका विवाह उदयपुर के महाराणा भोजराज के साथ हुआ था। भक्ति की प्रवृति इनमें बालकाल से ही थी। विवाह के कुछ काल बाद ही ये विधवा हो गईं, तब से पूर्णतया विरक्त होकर सतसङ्ग और गिरिधर नागर में अपना मन लगा दिया। इस कारण इनके परिजनों ने इन्हें महाकष्ट पहुँचाया किन्तु हरिभजन से ये विमुख नहीं हुईं। इनकी भक्ति माधुर्य भाव

की थी। श्री कृष्ण को प्राणधन पति मान कर उनकी प्रेमानुभूति में सरस पद गाया करती थीं। इनके पदों के जैसा सुकुमार संगीत कम ही मिलता है। इन्होंने यद्यपि संयोग शृंगार के पद भी गाए हैं किन्तु अधिकतर वियोग शृंगार ही मिलता है। इनका विरह पक्ष बहुत गम्भीर और तीव्र है। विरह-वेदना की जितनी मर्म स्पर्शिनी शक्ति इनके पदों में है उतनी सूर की गोपियों में भी नहीं। यद्यपि उनका क्षेत्र मीरां के विरह से अधिक व्यापक है। प्रियतम की विकल अनुभूति का सच्चा आभास हमें मीरां के पदों में ही मिलता है। अनेक पद सङ्गीत के अलौकिक निधि हैं जिनसे अनेक गायकों को महान प्रगति मिली है। इनके पदों में कृष्ण के सौन्दर्य की ही प्रेमाभिव्यक्ति हुई है, किन्तु इनका ेम सत्यनिष्ठ पत्नी के हृदय का सच्चा उद्गार है। उसमें रूप का लेश मात्र भी मोह नहीं। मीरा ने हमारे गीति-काव्य को अपने अमर पदों से सजीवता दी है, जो सदैव भारतीय भक्ति और सङ्गीत में स्पन्दित होती रहेगी। यद्यपि काव्य-कला और भाषा की दृष्टि से इनके गीत समय के अपवाद हैं—क्योंकि उनकी भाषा राजस्थानी, गुजराती, ब्रजभाषा आदि की खिचड़ी है। उन्होंने ब्रजभाषा की नवोदित धारा को नहीं अपनाया। उनका उद्देश्य प्रियतम की प्रेमानुभूति में श्रद्धांजलि चढ़ा चढ़ा कर अपने वियोग को मधुरतम बनाना था, न कि काव्य का सृजन करना। फिर अन्तरंग दृष्टि से उनके गीत सर्वोच्च स्थान पाते हैं। मीरां ने भविष्य में अनेक स्त्रियों को भक्ति-भाव और कवित्व से प्रभावित किया। वास्तव में रीतिकाल में गीति-काव्य की शुद्ध परम्परा को स्त्री-भक्तों ने ही जीवित रक्खा है।

कृष्ण काव्य में तुलसी दास जी का भी स्थान है किन्तु उनका उल्लेख अलग राम-काव्य के अन्तर्गत किया जावेगा।

कृष्ण-काव्य में और भी अनेक गीति-कवि हुए हैं जिन्होंने फुटकर पदों की रचना कर गीति-काव्य के कोष को भरा है किन्तु उनमें मुख्य हित-हरिवंश, सूरदास मदन मोहन, स्वामी हरिदास, तानसेन, व्यास ज़ी, गदाधर भट्ट रहीम, रसखान और बनारसी दास आदि हैं।

हित हरिवंश (सं० १५५९ वि०)—ये राधा वल्लभी सम्प्रदाय के

संस्थापक थे। सं० १८५२ में वृन्दावन में इन्होंने श्री राधा वल्लभ की मूर्ति स्थापित की और विरक्त भाव से वहीं रहने लगे। अष्टछाप के कवियों के उपरान्त भक्ति-क्षेत्र में इनका ही स्थान है। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। ब्रजभाषा में बड़ी ही सुन्दर और सरस रचनाएँ करते थे। गोसाईं जी ने अपनी काव्य माधुरी के कारण ब्रजभाषा का भी बहुत कुछ परिष्कार किया। इनके पदों में सरसता और भावोद्रेक होने के साथ साथ मौलिकता भी है। गीति-काव्य में इनका विशिष्ठ स्थान है। इनके पदों का संग्रह 'हित चौरासी' कहलाता है। अपने माधुर्य के कारण ये श्री कृष्ण जी की वंशी के अवतार माने जाते हैं। इनके श्री राधा-कृष्ण के विशुद्ध शृङ्गार में दिव्य-प्रेम की झलक स्पष्ट दिखलाई पड़ती है इसी से वैष्णव भक्तों में राधा जी के दिव्य-दर्शनों की और पवित्र भक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हुई। रूप-सौदर्य और रास लीला का इस पद में कितना सुन्दर चित्र है।—

आजु बन नीको रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना-तट, मोहन बेनु बजायौ॥
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ, मिलि रस-सिन्धु बढ़ायौ।
बिबिध-बिरुद वृषभानु नन्दिनी, अंग-सुढंग दिखायौ॥

श्याम-रूप पर वे मुग्ध हैं। प्रीति की रँगीली रीति को उन्होंने समझ लिया है। 'नागरि स्याम' के अतिरिक्त और कुछ वे जानते ही नहीं—

हौं बलि जाऊँ नागरि स्याम।
ऐसिय रंग किरो निसि-बासर, वृन्दावन बिपिन-कुटी अभिराम॥
हास-विलास-सुरत-रस सींचत
पसुपति-दग्ध जिवावत काम॥
हित हरिबंस लोल लोचन अलि,
करहु न सफल सकल सुखदाम॥

अथवा—

देखो माई, सुन्दरता की सीवाँ।
ब्रज-नव तरुनि-कदम्ब-नागरी निरखि करति अध ग्रीवा।

जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै रसना कोटिक पावै ।
तऊ रुचिर बदनारबिंद की शोभा कहति न आवै ॥
देवलोक भुवलोक रसातल सुनि कबिकुल, मन डरियै ।
सहज माधुरी, अङ्ग-अङ्ग को, कहि कासों पट तरियै ॥
'हित हरिवंश' प्रताप रूप गुन बय बल स्याम उजागर ।
जाकी भ्रूविलास बस पसुखि, दिन बिथकित रस सागर ॥

गदाधर भट्ट (स० १५९० वि०)—ये चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। ये भागवत को गागा कर सुनाया करते थे। संस्कृत के विद्वान होने के कारण इनके पदों में संस्कृत शब्दावली का बाहुल्य है। इनकी भाषा सुन्दर, सरस और सारगर्भित है। इनके पदों में गोस्वामी जी की 'विनय पत्रिका' के पदों का सा आभास मिलता है। ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके पदों में साहित्यिक सौष्ठव के साथ अनुराग, भक्ति और त्याग की मात्रा अधिक है। ये भी ब्रज-साहित्य और गौर-सम्प्रदाय के अभिमान-स्वरूप हैं

झूलति नागरि नागर लाल ।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल ॥
फर हराति पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल ।
मनहुँ परस्पर उमँगि ध्यान छबि,प्रगट भई तिहिं काल ॥
सिल सिलात अति प्रिया सीस तें, लटकति बेनी भाल ।
जनु पिय मुकुट बरहि भ्रमबस तहँ, ब्याली विकल बिहाल ॥
मल्ली-माल प्रिया की उरझी, प्रिय-तुलसीदल-माल ।
जनु सुर सरि रवितनया मिलि कै,सोमित श्रेनि.मराल ॥
स्यामल गौर परस्पर प्रतिछबि, सोभा बिसद बिसाल ।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि-मन, परयौ सुरस जंजाल ॥

अन्य कवियों के कुछ चुने हुए पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

सूरदास मदनमोहन (सं० १६०० वि०)

नवल किसोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपरि, स्याम भुजा अपने उर धरिया ॥

करत बिनोद तरनि-तनया-तट, स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया।
मौं लपटाइ रहे उर अंतर, मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया ॥
उपमा को घन दामिनी नाहीं, कँदरप कोटि बारने करिया।
सूर मदन मोहन बलि जोरी, नँद नन्दन वृष भानु दुलरिया ॥

व्यास जी

परम धन राधे-नाम अपार।
जाहि स्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारंबार ॥
जंत्र-मंत्र औ वेद-तन्त्र में, सबै तार कौ तार।
श्री सुक प्रगट कियो नहिं यातें, जानि सार कौ सार ॥
कोटिन रूप धरे नँद-नन्दन तऊ न पायो पार।
व्यासदास अब प्रगट बखानत डारि भार में भार ॥

श्री भट्ट

ब्रज भूमि मोहिनी मैं जानी।
मोहन कुंज, मोहन वृन्दाबन, मोहन जमुना-पानी ॥
मोहन नारि सकल गोकुल की बोलति अमरत-बानी।
श्री भट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी ॥

अष्टछाप के कवियों द्वारा देश और साहित्य में राधा-कृष्ण की भक्ति की जो परम पावन धारा प्रवाहित हुई, उसमें न केवल हिन्दू भक्तों ने ही अपनी आत्मा का कल्याण किया वरन् अनेक मुसलमान कवियों ने भी उसमें परित्राण पाया। हिन्दू भक्ति-भाव से अपने काव्य में हिन्दू भक्त-कवियों की भाँति ही तन्मय होकर उन्होंने राधा-कृष्ण को सरस प्रेमांजलि चढ़ाई। यद्यपि इन कवियों ने गीति-काव्य की परम्परागत पद-शैली को पूर्णतया नहीं अपनाया तथापि उनके कवित्त, सवैये और दोहे प्रगीतत्व के व्यंजक हैं। इन कवियों में रसखान, रहीम और 'ताज' प्रमुख हैं।

रसखान (सं० १६१५) गोस्वामी विट्ठलनाथ के प्रिय शिष्य थे। ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे और राधा-कृष्ण के परम-भक्त थे। '२५२

वैष्णवों की वार्ता' में इनका उल्लेख मिलता है। इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेमासक्ति में ब्रजभाषा में बड़े सरस और मर्म-स्पर्शी सवैये रचे हैं। जिनका काफ़ी प्रचार है। इन्होंने अपने समय में प्रचलित गीत-पद्धति को न अपना कर कवित्त-सवैया शैली को अपनाया। किन्तु भावाभिव्यक्ति और तन्मयता की दृष्टि से इनके सवैये अवश्य ही उत्कृष्ट हैं, जिनमें हृदय और अन्तर्जगत का सरस आभास मिलता है।

मानुष हौं, तो वही रसखानि, बसौं ब्रज-गोकुल-गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं, तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं, तौ वही गिरि कौ, जो धरयौ कर छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पिताम्बर, लै लकुटी बर, गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो रसखानि, सो तेरे कहे सब स्वाँग भरौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥

रहीम (सं० १६१०-८२)—गोस्वामी तुलसीदास जी के परम मित्र थे। ये संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के विद्वान थे और हिन्दी काव्य के कुशल कवि थे। ब्रजमाधुरी और राधा-कृष्ण की भक्ति में इन्होंने कवित्त-सवैयों के साथ कुछ पद भी गाए। ये विशेषकर अपने नीति के दोहों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका एक पद दिया जाता है—

कमल दल नैनन की उनमानि।
बिसरति नाहिं, सखी! मो मानतें मंद मंद मुसकानि।
बसुधा की बसकरी मधुरता, सुधापगी बतरानि॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुतमाल थहरानि॥
नृत्य समय पीतांबर हू की फहर फहर फहरानि॥
अनुदिन श्री वृन्दाबन ब्रज तें आवन आवन जानि।
अब रहीम चित तें न टरति है सकल स्याम की बानि॥

राम-काव्य में गीति-काव्य के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास ही हैं। राम-काव्य की परम्परा गोस्वामी जी तक ही साधारणतया सीमित रही।

राम-काव्य

यद्यपि बाद के कुछ कवियों ने राम-चरित्र को अपने काव्य में अवश्य गाया है पर वह तुलसीदास के काव्य से बहुत निम्न श्रेणी का है। पद रूप में तो तुलसी के बाद राम-चरित्र वर्णन या भक्ति-भाव प्रदर्शन प्रायः कम ही हुआ है। तुलसीदास जी के गीति काव्य में राम और कृष्ण दोनों के चरित्रों के पद मिलते हैं अतएव वे कृष्ण-कवियों के अन्तर्गत भी आजाते हैं। भक्ति काल के गीति-कवियों में सूर और मीरां के पश्चात् तुलसीदास जी ही का स्थान है।

तुलसीदास जी (सं० १५८९-१६८० वि०)—अकबर बादशाह के समकालीन थे। तत्कालीन डावांडोल हिन्दू जाति को राम-भक्ति का सरस उपदेश देकर इन्होंने उसे अमर जीवन दिया। तुलसीदास जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ भक्त और जगद्विख्यात महापुरुष थे। यद्यपि उनका गीति-काव्य श्रेष्ठ है, पर उसका अनुसरण नहीं हुआ। उनके पश्चात् भी भक्ति की भावना में राधाकृष्ण की ही प्रधानता रही। अतएव जो कुछ गीति-काव्य उनके पश्चात् रचा गया, राधा-कृष्ण की भक्ति से ही ओत-प्रोत है। कृष्ण गीतावली, राम गीतावली और विनय पत्रिका इनके तीन गीति काव्य हैं। कृष्ण गीतावली में कृष्ण के बाल जीवन का सूक्ष्म, सरस और सरल वर्णन किया है। ये पद प्रायः वर्णनात्मक ही हैं। अतएव उनमें आत्म-निवेदन नहीं है। इसी प्रकार राम गीतावली में राम के चरित्र का भावात्मक वर्णन है। राम के शील और सौंदर्य की इनमें बड़ी मनोमोहक व्यजंना है। ये एक प्रकरण वद्ध गीति-काव्य है। उसमें 'मानस' की भाँति ही राम-चरित्र की कथा का विकास मुक्तक पदों द्वारा हुआ है, पर गीति-काव्य के अनुकूल उसमें प्रगीतत्त्व के प्रवाह के लिए कर्कश प्रकरणों को छोड़ दिया है। हृदय के स्वाभाविक स्फुरण का उनमें अनुपम प्रवाह है। तुलसीदास जी ने गीति-काव्य में ब्रजभाषा को ही प्रयुक्त किया है जिससे ज्ञात होता है कि अवधी के समान उस पर भी इनका पूर्ण अधिकार था। प्रगीतत्व की मर्यादा का पूर्ण विकास

उनकी 'विनय पत्रिका' में मिलता है। उनके पद कवि के जीवन, हृदय और मस्तिष्क के सजीव चित्र हैं। तुलसी में सूर का सा शब्द चमत्कार नहीं मिलता पर इनके गीतों में लोकहित का आदर्श निहित है। साथ ही गोस्वामी जी ने अपने दार्शनिक विचारों की भी विनयावनत होकर भावात्मक व्यंजना की है, जिससे उनके गीतों में मस्तिष्क और हृदय दोनों का समतुल्य निर्वाह हुआ है।

रीति-काल

तुलसीदास जी के बाद से रीति कालीन प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो गई थीं जिससे गीति-काव्य का सतत ह्रास होता गया। अब देश में राजनैतिक शान्ति थी और भक्ति के प्रभाव से धार्मिक-विश्वास में कोई विशेष हलचल न थी। काव्य और संगीत राजदरबारों की मनोरंजन की वस्तु होते चले जा रहे थे। कवियों का उद्देश्य आत्म-परितोष न होकर अपने आश्रय दाता राजाओं को ही प्रसन्न करना रह गया था। अतएव गीतों की रचना सम्भव न थी, क्योंकि उनमें अनुभूति, भावोद्रेक और अन्तर्जगत के चित्रण के साथ साथ निस्वार्थ-भाव से आत्मा की सच्ची व्यंजना होती है। दूसरे राधा-कृष्ण का वह कल्याणकारी रूप नायक-नायिका के रूप में विलासी हो गया था। गीति-काव्य का सृजन सदैव कल्याणकारी भावना को लेकर ही होता है। रीतिकाल के विलासप्रिय दूषित वातावरण में उसका सृजन न करके तत्कालीन कवियों ने उसकी पवित्र मर्यादा को सुरक्षित रक्खा, यह उचित ही किया। क्योंकि गीति-काव्य आदिकाल से ही आराध्य—भगवान के गुणगान में प्रयुक्त होता रहा है। भजनानंदी भक्तों का वह परम कल्याणकारी संकीर्तन था। उसमें आत्म-साधना का सर्वोच्च उद्देश्य निहित था। संगीत तो वैदिक काल से ही दिव्य-आनन्द और भगवान की प्रेमानुभूति एवं मोक्ष-साधन का अंग समझा जाता था। यह आत्म-साधना की भावना रीति कालीन कवियों में न थी।

इतना अवश्य है कि कुछ भक्त-कवि अब भी उस वातावरण से दूर रहकर राधाकृष्ण की भक्ति में तल्लीन थे। इनमें स्त्रियों का स्थान विशेष उल्लेखनीय हैं। क्योंकि रीतिकाल में गीति-काव्य की परम्परा को इन्होंने ही

विशेष सुरक्षित रक्खा और आधुनिक युग तक उसे पहुँचाया। यद्यपि देव, बिहारी और घनानंद आदि के कवित्त, सवैयों और दोहों में राधाकृष्ण की पवित्र भक्ति की भावना भी मिलती हैं, भावाभिव्यक्ति के साथ, आत्म निवेदन, आत्म-समर्पण आदि भावनाएँ भी मिलती हैं किन्तु उनको गीति-काव्य के अन्तर्गत नहीं ले सकते, क्योंकि उन्होंने उसकी परम्परा की अवहेलना की। प्रेम की व्यञ्जना में घनानंद मीरां के समकक्ष आ सकते हैं, क्योंकि उनके पदों में विरह की भावना ही प्रबल है। उनके काव्य में श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण जीवन की सरस अभिव्यक्ति हुई है। वे कृष्ण-साहित्य के अनन्य सेवक हैं। विरह की भावना में वे उतने व्यापक नहीं जितनी कि मीरां की करुण पुकार है।

लोचन स्वादी हैं छवि-रस के।
देखि-देखि प्रिय-मुख सुख पावत, त्यागी पलक-परस के।
ताहि में मुसकानि-आसब छकि, नाहिं रहे मो बस के॥
क्यों कुल कांकि करें आँनँदघन जिन हियरे ए चस के॥

स्याम सलौने सों दृग अटके।
रूप-रसासब छके न माँनत, बहुत भाँति है हटके।
मोहू अपबस कियें नचावत, गोंहन मोंहन नागर नटके॥
आँनँदघन इनको सिख ऐसे जैसे तुस लै फटके।

रस रंग भरी मृदु बोलनि को कब काननि पान कराय हौ जू।
गति हंस प्रसंसित सों कबधौं सुख लै अंखियानि मैं आय हौ जू।
अभिलाषनि पूरित हैं उफन्यो मनते मन मोहन पाय हौ जू॥
चितचातक के घनआनंद हौ रटना पर रीझनि छाय हौ जू॥

देव और सेना पति के कवित्त-सवैये रसखान की ही टक्कर के हैं। इतना अवश्य है कि वे गेय हैं और सर्वसाधारण में उनका प्रचार भी है। हमारे यहाँ तो सभी काव्य प्रायः गाया जाता था, यहाँ तक कि दोहे और चौपाइयों का अब भी बहुत कुछ गान होता है। किन्तु इस काल में गीति-

काव्य की प्रवृत्तियों और परम्परा की उपेक्षा की गई है। इसी से इन कवियों को गीति-काव्य में स्थान नहीं मिल सका।

फिर भी इस काल में जिन कवियों ने शुद्ध गीति-काव्य की रचना की है उनमें नागरीदास, रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह, अलबेलि अलि, चाचा हितवृन्दावन दास, भगवत रसिक आदि मुख्य हैं। स्त्रियों में सुन्दर कुँवरि, सहजोबाई, दयाबाई, प्रताप बाला, रसिक बिहारी, जुगलप्रिया और प्रतापकुँवरि आदि मुख्य हैं। ये स्त्रियाँ प्रायः सभी रानियाँ थीं, भक्त थीं और कवि थीं। इस काल के गीतों का उदाहरण देना समीचीन होगाः—

नागरीदास (सं० १७५६)—वल्लभ कुल के गोस्वामी रण छोड़ जी के शिष्य थे। तीर्थाटन करते हुए ये वृन्दाबन में आकर विरक्त भाव से रहने लगे। वृन्दावन विहारी के ये अनन्य भक्त थे और फुटकर पदों में भक्ति-भाव से उनका गुणगान किया करते थे। ब्रजभूमि से इन्हें विशेष प्रेम था। इन्होंने काव्य का महान् सृजन किया जिससे इनके अनेकों ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें होली का वर्णन बहुत विशद और सरस है। ये ब्रजभाषा के महान् कवि माने जाते हैं—

हमारे मुरली वारौ स्याम।
बिनु मुरली बनमाल चंद्रिका, नहिं पहिंचानत नाम।
गोप रूप वृन्दावन-चारी ब्रज जन पूरन काम।
याही सों हित चित्त बढ़ौ नित, दिन दिन पलछिन जाय॥
नंदी सुर, गोवर्धन, गोकुल, बरसानो बिस्राम।
नागरिदास द्वारिका मथुरा, इनसों कैसो काम॥

अलबेलि अलि

वृन्दाबन बसि यह सुख लीजै।
सात समय की टहल महल बिनु, इकछिन जान न दीजै।
परम प्रेम की रासि रसिक जे, तिनही कौ संग कीजै॥

निबड़ निकुंज बिहार चारु अति, सुरस-सुधा दिन पीजै ।
और भजन साधन में मिथ्या, कबहूँ काल न छीजै ॥
दिन दुलराइ लड़ाइ दुहुन कों, अलबेलि अलि जीजै ।

चाचा हितवृन्दावनदास

सुहावन सावन राधा, सुख तिहारे बाट परयो ।
यह जो सतगुन रूप अंग संग, फूलन में उघरयो ॥
यह जु चौगुनो चाव कौन विधि, भागन तें जु बढ्यो ।
वृन्दाबन हित रूप रसिक कौ, लहनो सुकृत करयो ॥

भगवतरसिक

तुव मुख नैन कमल अलि मेरे ।
पलक न लगत पलक बिनु देखे, अरबरात अति फिरत न फेरे ॥
पान करत मकरंद रूप-रस, भूलि नहीं फिर इत उत हेरे ।
भगवत रसिक, भये मतवारे, घूमत रहत छके मद तेरे ॥

सुन्दर कुँवरि (दिल्ली सं० १७६१)

मेरी प्रान सजीवन राधा ।
कब तो बदन सुधाधर दरसै यों अँखियन हरै बाधा ॥
ठमकि ठमकि लरिकौहीं चालत आवसामुहे मेरे ।
रस के बचन पियूष पोषके कर गहि बैठहु मेरे ॥
रहसि रंग की भरी उमंगनि ले चल संग लगाय ।
निभृत नवल निकुंज विनोदन विलसत सुख-दरसाय ॥
रंग महल संकेत सुगल कै टहलिन करतु सहेली ।
आज्ञा लहौं रहौं तहँ तटपर बोलत प्रेम-पहेली ॥
मन-मंजरि जु कीन्हो किंकरि अपनावहु किन बेग ।
सुन्दर कुँवरि स्वामिनी राधा हिय की हरौ उदेग ॥

प्रताब बाला (सं० १८६१)

बाजैरी बँसुरिया मन-भावनन की।
तुम हो रसिक रसीली वंशी अति सुन्दर या मन की ॥
या मुख ले वाको रस पीवे अँग अँग सुखमा तन की।
या मुख की मैं दासि चरन रज दोउ सुख उपजावन की ॥
शोभा निरखत सखो सबै मिलि विष्णु कुँवरि सुख पावन की ॥

जुगल प्रिया (सं० १६२८)

नैनन मोहन रूप छनेरी।
सेत, स्याम रतनारे प्यारे ललित सलोने रंग रंगे ररी ॥
बाँकी चितवन चंचल तारे मनो कंज पै खंज अरेरी।
'जुगल प्रिया' जाके उर भाए अधिक बावरे सोह भयेरी ॥

अतएव रीतिकाल में हम गीतों का समुचित विकास नहीं पाते। उनका दिनों दिन ह्रास ही होता गया। भावों में भी कोई मौलिकता नहीं मिलती। वही अष्टछाप की प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं, बल्कि उनका भी ह्रास होगया है। भावव्यंजकता, शब्द वैचित्र्य, भाषा-लालित्य और संगीत में इस काल के पद बहुत गिर गए। संगीत का वह उत्कर्ष और महत्त्व अब न रह गया था जो कि भक्ति-काल में था। वह बाज़ारू होकर निम्न श्रेणी में ही सीमित होता चला गया। जिसका पुनरूद्धार आधुनिक युग में हो रहा है। इस काल के पश्चात् आधुनिक युग आता है।

भारतेन्दु जी से इसका प्रारम्भ होता है। यह परिवर्तन का युग था। समाज में, साहित्य में, जीवन के आदर्शों में महान परिवर्तन होता चला गया। पर गीति-काव्य का कुछ काल तक प्रायः भक्तिकाल का सा ही स्वरूप बना रहा। क्योंकि भारतेन्दु जी और सत्यनारायण जी ने ब्रजभाषा में ही पद-शैली को अपना कर राधा-कृष्ण की प्रेमानुभूति में परम पवित्र गीतों की रचना की। इतना अवश्य है कि अब भावों का क्षेत्र विस्तृत होकर देश और जाति की ओर फैलने लगा। आत्म-निवेदन और आध्यात्मिक दुख के साथ

आरत-भारत और दुखी-जनों के कष्ट निवारण की प्रार्थना भी भक्ति-पूर्ण पदों में मिलती है। जिनकी प्रवृत्ति सत्यनारायण जी के पदों में प्रचुरता से वर्तमान है। यद्यपि इनके पहले भी गीतों में परिवर्तन उपस्थित होने लगे थे, किन्तु उनका पूर्ण विकास प्रसाद युग में ही हुआ। अतएव आधुनिक युग का वास्तविक प्रारम्भ प्रसाद जी से ही हुआ।

रीतिकालीन अवनत गीति-काव्य को भी भारतेन्दु जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से ऊपर उठाया। श्री राधा-कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर उन्होंने जो पद गाए, उनमें भक्ति कालीन गीति-काव्य की प्रवृत्तियों का यथेष्ट समावेश और विकास हुआ उनके पद किसी प्रकार भी भक्ति-काल के पदों से हीन नहीं कहे जा सकते। रीति काल में राधा-कृष्ण को नायक-नायिका बनाकर उनके दिव्य जीवन का जो विलास और अश्लीलता से पूर्ण खिलवाड़ किया जा रहा था भारतेन्दु जी ने अपनी पदावली में उनकी दिव्य-भावना और कल्याण कारी भक्ति को फिर से जाग्रत करके उसे सदा के लिए समाप्त कर दिया। भारतेन्दु जी के काव्य में, जीवन में, उद्देश्य में सर्वत्र ही देश-सेवा की भावना वर्तमान है और यही उनके पदों में भी सूक्ष्म रूप से निर्दिष्ट है। वे भारत के उद्धार और दुख निवारण में कितनी आर्त प्रार्थना करते हैं—

कहाँ करुणा निधि केसव सोए ?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।

भारतेन्दु जी ने कविता में सदा ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया क्योंकि उनका विश्वास था कि खड़ीबोली में सरस और मधुर रचना हो ही नहीं सकती। किन्तु द्विवेदी युग में खड़ीबोली को प्रोत्साहन मिला। ब्रजभाषा के साथ काव्य में खड़ीबोली का भी प्रयोग किया गया किन्तु प्रभाव ब्रजभाषा का ही रहा।

सत्यनारायण जी ने भी भारतेन्दु जी के समान ही कृष्ण की अनन्य भक्ति में विह्वल होकर पदों में अपने तथा देश के दुःखी गान गाए। उन्होंने अपनी सहृदयता से ब्रजभाषा को और भी सुकुमार बना दिया। जीवन करुणा से पूर्ण होने के कारण उनकी विनय में तन्मयता के साथ करुणा की मात्रा अधिक मर्म-स्पर्शिनी है। अपनी मधुर वाणी और कविता-पाठ के सरस ढङ्ग

के कारण वे 'व्रज-कोकिल' कहे जाते हैं। माधव को दीन-दुखियों को उबारने के विषय में वे कितनी सुन्दर चुटकी देते हैं—

माधव, आप सदा के कोरे।
दीन-दुखी जो तुमकों जाँचत, सो दाननि के भोरे॥

और फिर एक ताना देकर भारतवासियों की अकुलता-व्याकुलता को दूर करने की प्रार्थना करते हैं—

मोहन! कबलौं मौन गहौगे?
निज आँखिन पै धरैं ठीकुरी, कितने और रहौगे?
तुम देखत भारत-मानवकुल, आकुल छिन-छिन छीजै।
कहा भयौ पाषान हृदय तुव, जो नहिं तनिक पसीजै॥

साथ ही वे कृष्ण जी से निर्जीव हिन्दू जाति में जाति प्रेम को उत्पन्न करने के लिए कितना अनुरोध कर रहे हैं—

होरी सी जातीय प्रेम की फूँकि, न धूरि उड़ावौ।
जुग कर जोरि यही 'सत' माँगत, अलग न और लगावौ॥

अतएव भक्तिकाल की अन्य प्रवृत्तियों के साथ इनके गीतों में देश और जाति के प्रेम के लिए तीव्र आत्म-निवेदन है।

यहाँ पर यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि सत्यनारायण जी के समान ही ब्रजबिहारी कृष्ण और ब्रजभूमि के मतवाले श्री वियोगी हरि ने ब्रज-भाषा में बड़े ही उत्तम पदों की रचना की है। शुद्ध ब्रजभाषा के सरस कवियों में इनका स्थान अष्टछाप के समकक्ष है। राधा-कृष्ण की अनन्य भक्ति में तन्मय होकर इन्होंने जो पद-रचना की है वह सदैव भक्तों का कल्याण करती रहेगी। उनके पदों में हृदय की अमर झंकार है, प्रेम और विरह की हृदय-ग्राही व्यंजना है। वियोगी हरि जी के पदों की विशेषता है भक्ति के आवेश में उत्साह पूर्ण आत्म निवेदन। जिनमें शान्त रस कुछ गौण होकर वीररस प्रधान हो गया है। बलिवेदी पर अपने आपको चढ़ाने के लिए वे कितने आतुर हैं; उनकी विनय में वीरवाणी है—

बहैगो नैननि तें कब नीर।
देखि-देखि रण-रङ्ग रङ्गीले, अचल बाँकुरे बीर॥
छिरक्यौ देखि रकत केसरिया, बागेन पै सुचि रङ्ग।
फूलि उठैगी यह छाती कब, ह्वै हैं पुलकित अंग॥

अथवा—

अरे चलि वा मन्दिर की ओर।
करत शक्ति-आराधन जहँनित, वीर भक्त उठि भोर॥
तात बिमल निज हृदय-रक्त सों, करि वाकौ अभिषेक।
क्यों न चढ़ावत ललित लाल तेंहि, मौलि-माल गहि टेक॥
लाज-अग्नि सोइ धूप-दीपपुनि, नव नैवेद्य-विधान।
अपने करतें काटि सीसनिज, करु पुनीत बलिदान॥
रौद्र प्रचण्ड अखण्ड ज्योतिमय, कस नीराजन जाय।
करि हरि विनय वीर वाणी सों, शक्तिहिं लेहि रिझाय॥

आधुनिक काल

भारतेन्दु युग और प्रसाद युग का सन्धिकाल द्विवेदी युग है, जिसमें प्राचीन विषय और पद्धतियों का बहुत कुछ त्याग हो चुका था किन्तु उस काल में लाक्षणिकता और अभिव्यंजना का इतना विकास न हो पाया था कि पूर्णतया नवीन कहा जा सके। वस्तुतत्त्व और वर्णन-प्रणाली का ही काव्य में प्राधान्य रहा। इसी से इसे "इतिवृत्तात्मक काव्य का युग" भी कहते हैं। इस युग के गीति-कवियों में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त मुख्य हैं। काव्य में विभाव पक्ष विकसित होता जा रहा था। एतदर्थ प्रकृति की ओर कवियों का अधिक ध्यान गया। श्रीधर पाठक प्रकृति के एक मात्र मनोयोगी और उपासक हैं। उन्होंने एक ओर बहिरंग दृष्टि से पदावली और ब्रजभाषा को अपना कर नवीन सुधारक भावनाओं के पद रचे तो दूसरी ओर देश-प्रेम और भारत की बढ़ती हुई भावना से प्रभावित होकर खड़ी बोली में भारत-गीतों की रचना की। ऐसे गीतों के एक मात्र वही अधिष्ठाता

रहे। इन गीतों में दिव्य भारत का गौरवपूर्ण मनोमोहक सरस वर्णन है, जिनका सामाजिक और स्कूली उत्सवों पर सदा गान होता है। साथ ही सेवा-भाव, त्याग और प्रेम-भावना से परिपूर्ण इन्होंने कुछ चरगीतों की भी रचना की है जिनको मार्ग में चलते चलते गाया जाता है। इन चर-गीतों का बाल-चर मण्डलों में विशेष प्रचार है। ब्रजभाषा के पद 'भ्रमर गीत' के नाम से रचे गए हैं किन्तु उनमें भ्रमर गीत की परम्परा के अनुसार गोपी-उद्धव संवाद और विरह-व्यंजना नहीं है, वरन् अन्योक्ति से सुधारवादी भावनाओं के साथ प्रेम का आदेश है। इस सन्धिकाल के प्रभाव से पाठक जी ने खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों में गीतों की रचना की जिनमें उनकी अपनी शैली है, अपनी प्रवृत्ति है और अपनी मौलिकता है, जिसका अनुकरण आगे कम ही किया गया।

गुप्त जी के काव्य का आविर्भाव यद्यपि द्विवेदी-युग में ही हुआ किन्तु इन्होंने ब्रजभाषा को न अपना कर खड़ीबोली में ही काव्य रचना की, जिसका आरम्भ 'भारत-भारती' से होता है। इन्होंने गीति-काव्य की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं की है। जो गीत लिखे हैं वे प्रबन्ध काव्यों में ही हैं। किन्तु इन गीतों का काव्य के कथानक अथवा प्रकरण से अधिक सम्बन्ध नहीं है। वे किसी पात्र विशेष के अन्तजर्गत के चित्र हैं और पूर्णतया स्वतंत्र हैं। इससे उनके गीत मुक्तक गीतों की शुद्ध श्रेणी में आते हैं। ये गीत विशेषकर 'साकेत' और 'यशोधरा' में ही उपलब्ध हैं। इनके गीतों में प्रकृति की सूक्ष्म व्यंजना और मानसिक भावों का अपूर्व सामंजस्य है जिसका विकास प्रसाद युग में हुआ। इनके गीत एक प्रकार से प्रकृति गीत कहे जा सकते हैं क्योंकि वे काव्य के अन्तर्गत किसी विशेष भावना को लेकर प्रकृति का वातावरण उत्पन्न करते हैं जिसमें हमें उर्मिला अथवा यशोधरा के हृदय का तारतम्य मिलता है। प्रकृति के भिन्न भिन्न अंग—सरिता, पर्वत, वन, कोकिल, वसन्त, शिशिर, समीर आदि पर बड़े ही सुन्दर और मधुर गीतों की रचना की है, जो अपना विशेष स्थान रखते हैं। इन गीतों के बाद जो गीत मिलते हैं उनमें प्रकृति और मानसिक भावों को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों का अन्तःकरण भावना की सूक्ष्मता से घुल-मिलकर एक हो गया है, जिनमें वर्णनात्मक शैली

का अभाव और अभिव्यंजनात्मक शैली का विकास होता चला गया है। इन्होंने गीतों में पद-शैली को भी अपनाया है और आधुनिक शैली को भी। रहस्यवाद से प्रभावित होकर गुप्त जी ने 'झंकार' में कुछ रहस्यवादी गीत भी लिखे हैं किन्तु उनमें दार्शनिक तत्त्व प्रधान होने से प्रगीतत्व का ह्रास हो गया है। वे उच्च कोटि के गीत न हो सके।

अब हम पूर्णतया आधुनिक युग में आजाते हैं। इस युग में गीतों का जितना विस्तार हुआ उतना कदाचित भक्ति काल में ही मिलता है। नवीन गीतों का सुव्यवस्थित रूप में सबसे पहले नाटकों में ही विकास हुआ। और यह गीत गुप्त जी के गीतों से भी पहले रचे गए हैं। अब तक नाटकीय कम्पनियों में जो नाटक रचे जाते थे, उनमें गीतों का साहित्यिक रूप न था। साथ ही संगीत का भी बड़ा ही निम्न प्रदर्शन होता था। किन्तु प्रसाद जी ने जहाँ नाटकों की कला को समुन्नत करके उन्हें उच्चकोटि का साहित्यिक कलेवर दिया, वहाँ गीतों को भी उनके समानुरूप ही ऊपर उठाया। इस मौलिकता से गीति काव्य को बहुत प्रगति मिली। उनका स्वरूप दिनों दिन साहित्यिक और संगीतमय होता चला गया। प्रसाद जी ने संगीत के सुसंस्कृत रूप में गीतों की रचना की, जिससे दोनों रूपों में काव्य में भी और संगीत में भी उनके नाटकों के गीत आदर्श उपस्थित कर सके। प्रसाद जी के अतिरिक्त अन्य नाटककारों ने भी अपने गीतों की रचना में उनका ही अनुकरण किया। जिनमें पं० गोबिन्द वल्लभ पंत मुख्य हैं। श्री हरिकृष्ण प्रेमी के प्रयोग भी इस दिशा में स्तुत्य हैं। श्री सुमित्रा नन्दन पंत ने भी 'ज्योत्स्ना' में ऐसे ही गीतों की रचना की है। इन नाटकों के गीतों में प्रकृति-चित्रण, रूप-सौन्दर्य, प्रेमानुभूति और मानसिक राग-विरागों की लयकारी व्यंजना है। पर उनका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन ही ज्ञात होता है। भावोद्रेक और संगीत के वे साकार चित्र से हैं। प्रसाद जी के कुछ गीत तो गीति-काव्य के अमर और उज्ज्वल रत्न हैं। उनकी संगीतमय पंक्तियाँ अन्तःकरण में दिव्य-गान की भाँति गूँजती रहती हैं। कुछ गीत देश-प्रेम और एकता की भावना को भी लेकर लिखे गए हैं। प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में देश के उपर कितना मधुर गीत है,—

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ॥
सरस तामरस गर्भ विभापर—
नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर—
मंगल कुंकुम सारा ॥
लघु सुरधनु से पाँव पसारे—
शीतल मलय समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुंह किए—
समझ नीड़ निज प्यारा ॥

नाटकीय गीतों के अतिरिक्त आधुनिक गीति-काव्य में बिल्कुल नवीन और युगकारी भावनाएँ मिलती हैं। पराधीनता, देश-जाति-संस्कृति और आत्म-विश्वास की हीनता के कारण उत्साह वर्धक राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। जिसमें उत्साह के मानसिक स्वरूप को प्रदर्शित किया गया। पर राष्ट्रीय-काव्य में गीत बहुत ही कम मिलते हैं। वे मुख्य कर मुक्तक वीर काव्य के अन्तर्गत आते हैं। उनमें प्रगीतत्त्व का पूर्ण विकास नहीं हुआ। धार्मिक-विश्वासों की छिन्न-भिन्नता, भक्तिभाव के त्याग, और किसी सर्वशक्तिमान विश्व व्यापक सत्ता की अनुभूति में रहस्यवाद की भावना सजग हुई। इस अज्ञात शक्ति की प्रेमानुभति में संयोग और वियोग के गीत गाए गए, किन्तु वियोग पक्ष ही अधिक व्यापक हो पाया। ऐसे गीतों में विरह-वेदना और विषाद की गहरी अभिव्यक्ति है। तीसरी भावना का उदय हुआ संसार में बढ़ते हुए दुख और जीवन के संघर्ष से। हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं इससे हम उत्तरोत्तर चिन्ताशील होकर संसार के सुख-सौन्दर्य में नश्वरता का ध्यान करके नितान्त निराशा से भर जाते हैं। यह निराशा की भावना जीवन के साथ साथ काव्य में भी प्रगति पा रही है जैसा कि अनुकूल ही है। अतएव हम आधुनिक गीति-काव्य में एक ओर रहस्यानुभूति और विरह-वेदना की अभिव्यंजना पाते हैं तो दूसरी ओर निराशा की

इनके आधार हैं कल्पना, चिन्तन और अनुभूति। प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य को देखकर कवि अपनी कल्पना के सहारे एक सुखकर भाव-जगत की रचना करता है, किन्तु यथार्थता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह उसके स्थायित्व में संदिग्ध होकर विषाद से भर जाता है। तब उसे उस वेदना में सौन्दर्य और प्रेम के शाश्वत तारतम्य की अनुभूति होती है जिसमें वह परम चेतन का अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार करता है। यही आधुनिक गीतों की विशेषता है। इन गीतों के आध्यात्मिक पक्ष में रूढ़िगत भक्ति या परमसत्ता ईश्वर के प्रसिद्ध नामों (राम, कृष्ण, शिव, सबद आदि) का सर्वथा त्याग पाते हैं। वाह्य जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत का अधिक संवरण है। वाह्य जगत को भी अन्तश्चेतना के द्वारा भावजगत में ही व्यक्त किया है। प्रकृति की कोई स्वतंत्र सत्ता इन गीतों में नहीं मिलती। फिर भी प्रकृति-सौन्दर्य उनका आधार अवश्य है। जिसके बिना उनमें कुछ भी कला-सौन्दर्य नहीं रह सकता।

प्रसाद जी ने 'आँसू' में गीति-काव्य के उच्चतम आदर्श को उपस्थित किया है। इसी प्रकार 'लहर' में कुछ गीत उनकी अलौकिक प्रतिभा के द्योतक हैं। 'कामायनी' में मुक्तक और प्रबन्ध का अनुपम सम्मिलन है, जैसा कि सूरसार में मिलता है। प्रकरण वद्ध होते हुए भी प्रत्येक पद भिन्न है। दार्शनिक गहनता के कारण उसमें हृदय सुलभ गीतों की प्रचुरता नहीं रही। प्रसाद जी में सौन्दर्य-प्रेम की मात्रा बहुत अधिक है जिससे प्रकृति के अन्तःकरण में पहुँच कर उन्होंने अनन्त की प्रभावोत्पादक अनुभूति की है। वैभवशाली विगत की याद में वे निराश होकर विपुल आँसू बहाते दीखते हैं, किन्तु जीवन के शाश्वत-भाव में विश्वास करके अन्त में अनन्त आशा का आलोक मस्तिष्क पर अमिट रूप से छोड़ देते हैं। जिससे विषाद युक्त होते हुए भी वे आशावादी कवि हैं। उनमें कल्पना और अनुभूति की प्रधानता है जिनमें उनकी सौन्दर्य-वृत्ति सजग होती है। किन्तु चिन्तन में वे तीव्र-वेदना से पीड़ित कर देते हैं।

निराला जी के गीत काव्य-कला और संगीत में मौलिक प्रयोग हैं। रहस्यानुभूति में वे भी विरह-कातर होकर मधुर करुणा का सृजन करते हैं पर

चिन्तनशील होने के कारण दार्शनिक गहनता से दुरूह हो गए हैं। इसी से इनके गीतों की उत्कृष्ट मर्यादा का अनुकरण न किया जा सका। संगीत में उन्होंने पाश्चात्य और पौर्वात्य प्रणालियों का गीत सुलभ सामंजस्य किया है। जिसका प्रभाव उनके ऊपर बंगला से पड़ा। यही शैली पंत जी के गीतों में भी स्पष्ट है। निराला जी के गीतों में सुकुमार मृदुल भाषा के साथ ओजस्विनी गम्भीर भाषा भी पाते हैं, जिनमें भाव भी भाषा के अनुसार या भाषा भी भावों के अनुरूप होती चलती है। विशेषणों के प्रयोग में निराला जी सिद्धहस्त हैं। शब्द-चयन और स्वर-विस्तार में उनके गीत आदर्श हैं। पर उनमें कल्पना की जितनी ऊँची उड़ान है, अनुभूति की उतनी गहराई नहीं। उनके गीतों में शृंगार और करुणरस के साथ वीर, रौद्र तथा शान्त रसों का भी यथेष्ट समावेश पाते हैं।

पंत जी ने सुकुमार कल्पना की मन्द उड़ान में मृदुल पदावली का प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली भी ब्रजभाषा के समान ही गीतों के अनुकूल है। उन्होंने खड़ीबोली का बहुत परिष्कार और परिमार्जन किया, जिससे वह सलच और सुकुमार हो गई। कल्पना में पंत जी सबसे अधिक सुकोमल और मधुर हैं। उनके कल्पना जनित चिन्तन में प्रकृति-सौन्दर्य के द्वारा अनुभूति का समतुल्य विकास मिलता है। उनमें रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास हुआ है। और पुरातन के प्रति विद्रोह की भावना भी प्रकृति-जन्य ही है। वाह्य कारणों का उनके ऊपर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। आधुनिक कवियों में वे सबसे अधिक स्वाभाविक हैं, इसी से उनका गीति-काव्य भी हृदय का स्वाभाविक स्फुरण है। संसार में प्रेम की वासनामय कुत्सित भावना के उदय होने पर वे कितना स्वाभाविक पश्चाताप करते हैं,—

कभी तो अबतक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार।
हुई मदिरा मुझको ही आज
हाय गंगाजल की धार॥

महादेवी जी कभी अपनी पीड़ा में प्रियतम को ढूँढ़ती हैं और कभी

प्रियतम में पीड़ा। रहस्यानुभूति में विरह की वेदना उनके मानस में सबसे अधिक तीव्र है जो भावों की अनेक रूपता में बहुत व्यापक और मार्मिक है। उनके गीतों की विशेषता प्रकृति के काल्पनिक चित्रों में वेदना का भावात्मक रंगीन वातावरण है। महादेवीजी के गीतों ने आधुनिक गीतों को बहुत प्रगति दी है—विशेषकर भावों में। प्रसाद जी के बाद उन्हीं के गीतों का प्रचार अधिक है। इनका प्रेम प्रकृति को पाकर एक दम अलौकिक हो गया है। जिसमें आत्माभिव्यक्ति और निवेदन की प्रचुरता से आध्यात्मिक रंग आ गया है। अमूर्त रूप से मीरां की भक्ति, विरह और विरक्ति की भावनाओं का आभास मिलता है।

रामकुमार जी ने संसार की नश्वरता से निराश होकर गीतों में अज्ञात देव की करुण अनुभूति की है। कल्पना, चिन्तन और अनुभूति के समतुल्य निर्वाह से उनके 'देव' में तन्मयकारी भावना उदय हो गई हैं। गीतों का आलम्बन विशेष रूप से प्रकृति ही है, बल्कि प्रकृति ही उनमें सर्वत्र प्रधान है। एक ओर वे संसार के दुख से दुखी और सन्तप्त होते हैं तो दूसरी ओर सृष्टि के किसी भी अंग में विश्व-ज्योति की अनुभूति करते हैं। प्रसाद जी के गीतों के पश्चात् निराशा की भावना बढ़ती जाती है जिसका परम विकास बच्चन जी के गीतों में हुआ है, रामकुमार जी के गीतों में भी यह निराशा की भावना ही प्रधान है। भगवतीचरण जी ने अलौकिक प्रेम की परवाह न करके लौकिक प्रेम के ही सुन्दर गीत गाए हैं। साथ ही मानव के अहं-कार, गर्व, असत्य और कारनामों के निर्भय होकर ओजस्वी भाव-भाषा में सुन्दर चित्र भी खींचे हैं, जिससे वे यर्थाथवाद के अधिक निकट दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने किसी अलौकिक 'प्रिया' की कल्पना करके उसके रूप-सौन्दर्य पर ही प्रेमांजलियाँ चढ़ाई हैं। अतएव उनके गीतों में लोक-प्रवाह से कुछ भिन्नता पाते हैं। लौकिक सौन्दर्य और प्रेम में अन्तजर्गत को तन्मय कर देने की उनमें अद्भुत शक्ति है। गीत संक्षिप्त न होते हुए भी मुक्तक पदों के कारण शिथिल नहीं हो पाए हैं। उनका प्रभाव सतत् बना रहता है। मानवता के गीतों में वे चिन्तनशील हैं; प्रेम के गीतों में कल्पना और अनुभूति प्रधान।

आपके गीतों में भावावेश की यथेष्ट प्रचुरता है ।

सियारामशरण जी ने भी कुछ सुन्दर गीतों की रचना की है। 'पाथेय', 'मृण्मयी' और 'दूर्वादल' में कतिपय अच्छे गीत मिलते हैं। उनके गीतों की विशेषता भावना की विविधता और शब्द-चित्रों की स्पष्टता में है । उनमें संगीत की कमी तो है ही पर प्रवाह भी उस मात्रा में नहीं पाते जिस मात्रा में कि गीत में होना चाहिए । किन्तु प्रभाव में वे फिर भी उत्तम हैं । वर्तमान प्रवृत्ति के विरुद्ध उनमें प्रभु के प्रति बड़ी आस्था है । उसकी थोड़ी सी अनुभूति पाकर ही वे धन्य हैं । उनके शान्त हृदय से निकल पड़ता है—

> तेरे तीर्थ-सलिल से प्रभु हे !
> मेरी गगरी भरी-भरी
> कल-कल्लोलित धारा पाकर
> तट पर ही यह तरी-तरी ।
> तेरे क्षीरोदधि का पद-तल,
> जहाँ शान्ति-लक्ष्मी है अविचल
> फुल्लित-फलित जहाँ मुक्ताफल,
> नहीं ला सकी पहुँच वहाँ की
> पुण्य सुधा कल्याण-करी,
> तेरे तीर्थ-सलिल से प्रभु हे !
> मेरी गगरी भरी-भरी ।

पर अतृप्त रहकर भी वे 'पाया, पा सकती थी जितना, अधिक और यह भरती कितना'—कहकर परम सन्तोष कर लेते हैं । अपनी भावना और चित्रों में निम्न गीत बहुत मार्मिक है—

> एक ग्वालिन वह जमुना तट की ;
> लौटी भटकी-भटकी !
>
> फूलों पर भौरों का गुंजन,
> इधर उधर विहगों का कुंजन,

किन्तु श्रवण धन मिला न उसको
वदन खिन्न, मन उन्मन।
प्यासी सी वह उस सीरे में थी
दूर किसी आहट की।
एक ग्वालिन वह जमुना तट की।

बेचेगी क्या इन कुंजों में,
कुटिल करीलों के पुंजों में,
खिला रही है अपना मन तू,
मन के इन गुंजों में।
देख रही इनमें फिर-फिर क्या,
अपने उरकी लाली?
भली री ग्वालिन, गोरस वाली!

चल तनु में शुचि-मधु-रस छूटा,
गिरकर वह कच्चा घट फूटा,
दधि-माखन के मिस, अवनी ने
हर्ष-हास वह लूटा!
यह नट नागर नाच उठा है
बजा बजाकर ताली।
धन्य री ग्वालिन गोरसवाली।

जगती की विषमताओं में पड़कर वे लाचारी में कितनी निराशा व्यक्त करते हैं, पर उसमें वे पूर्णतया निराश नहीं हो जाते—

कैसे पैर बढ़ाऊँ मैं?
इस घन-गहन-विजन के भीतर
मार्ग कहाँ जो जाऊँ मैं?
कुटिल कँटीले झंखाड़ों में
उत्तरीय उड़कर मेरा

उलझ-उलझ जाता है, इसको
कहाँ कहाँ सुलझाऊँ मैं ?

पर अपने पुण्य पंथ पर वे अपने आप ही बढ़े चले जाते हैं—

अपने इन पद-चिन्हों पर ही
नूतन मार्ग बनाऊँ मैं।

'बच्चन' जी के गीतों में मौलिकता के नवीन दर्शन होते हैं। एक ओर 'ख़य्याम' से प्रभावित होकर भारतीय संस्कृति के विरूद्ध उन्होंने काव्य में मदिरा, मधुशाला और साक़ी को प्रतीक मानकर जीवन की सचाई के सरल-तम गीत गाए। जिनमें मानव के सभी पक्ष—सुख-दुख, राग-विराग, आशा-निराशा आदि की तर्कमय भावुक व्यंजना है जो दार्शनिक होते हुए भी अत्यन्त सरल है। दूसरी ओर यथार्थवादी भावना के प्रभाव से उनके गीतों में निराशा, विषाद और दुःख की अत्यन्त तीव्र वेदना पाते हैं। प्रकृति के रंगीन वातावरण को अपने निःश्वासों से भस्मसात कर अन्त में वे उसे आत्म-विषाद का केन्द्र बना देते हैं। संसार का कण-कण उन्हें संतप्त कर देने में व्यस्त है। वे अपने को अकेला पाकर और भी विकल हो उठते हैं। उनके गीतों में प्रभावान्विति की बड़ी क्षमता है, जिससे उनकी पंक्तियाँ अमरगान बन जाती हैं। सामान्य भावों को साधारण प्रचलित भाषा में कलापूर्ण बना देने की उनमें अक्षम प्रतिभा है।

हिन्दी गीति-काव्य में **श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान** का नाम नहीं जा सकता। नारी सुलभ भावुकता और स्वाभाविक अभिव्यंजना के साथ साथ आपके गीतों में संगीत का निर्वाह यथोचित मात्रा में हुआ है। आपकी भाषा सर्वत्र सरल, सुरीली और सुबोध है, जिसमें नारी का भावुक हृदय छलका पड़ता है पर वास्तविक कल्पना के साथ। 'मुकुल' में आपके कुछ सुन्दर गीत मिलते हैं। 'झाँसी की रानी' आधुनिक गीतिकाव्य में वीर-गीत का अनुपम उदाहरण है। उसकी उत्साह वर्द्धक पंक्तियाँ सदैव हमारे हृदय-सागर में उथल-पुथल मचाती रहती हैं—'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी'—वीर रस की अमर आह्वाहन है। वीर-गीतों

(Ballad) के अतिरिक्त आपने शान्त रस अथवा भक्ति-भाव से युक्त गीतों की रचना भी बहुत सफलता के साथ की है। जिनमें मुख्यतया 'ठुकरा दो या प्यार करो' बहुत प्रचलित है। इसमें आत्म समर्पण, विनय, निर्धनता और और सबसे अधिक भावुक तन्मयता के दर्शन होते हैं—

देव तुम्हारे कई उपासक, कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे, कई रंग की लाते हैं॥
धूम धाम से साज बाज से मन्दिर में वे आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥
मैं ही हूँ ग़रीबनी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लायी।
फिर भी साहस कर मन्दिर में पूजा करने को आयी॥
धूप दीप नैवेद्य नहीं है झाँकी का शृंगार नहीं।
हाय! गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं।
मैं कैसे स्तुति करूँ तुम्हारी है स्वर में माधुर्य नहीं।
मनका भाव प्रकट करने को वाणी में चातुर्य नहीं॥
नहीं दान है नहीं दक्षिणा खाली हाथ चली आयी।
पूजा की विधि नहीं जानती फिर भी नाथ चली आयी॥
पूजा और पुजाया प्रभुवर! इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन को समझो।
मैं उन्मत्त प्रेम का लोभी हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है बस यही पास है, इसे चढ़ाने आयी हूँ॥
चरणों पर अर्पित है, इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है ठुकरा दो या प्यार करो॥

इसके बाद हम धीरे धीरे देख रहे हैं कि यथार्थवाद और प्रगतिशीलता की धारा में रहस्यवाद विगत होता चला जा रहा है। पर यह निराशा जनित असन्तोष बढ़ता ही जा रहा है। हमारा काव्य सतत परिवर्तनशील रहा है किन्तु आधुनिक काव्य की गति बहुत तीव्र है। नवागत कवियों की भावनाओं में कोई निश्चित स्थिरता नहीं पाते। गीतों में ह्रास का परिचय मिल रहा है।

भावावेश की तीव्रता बढ़ती जा रही है। नवोदित कवियों में श्री नरेन्द्रशर्मा, पं० सोहनलाल द्विवेदी, श्री दिनकर, श्री आरसी प्रसाद सिंह और श्री अंचल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री नरेन्द्रशर्मा के गीत सुन्दर, परिमार्जित और मौलिक हैं। उनकी अपनी शैली के दर्शन उनमें होने लगे हैं।

इस प्रकार आधुनिक गीतों में बहुत से परिवर्तन होते चले आए। पर उनकी सार्वलौकिक विशेषता है अन्तर्जगत के सौन्दर्य में प्रकृति का आधार, अन्तश्चेतना और लौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य से अलौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य की अनुभूति। ज्ञात से अज्ञात का आवाहन इन गीतों का मुख्य ध्येय है।

प्रगतिशील गीतों में यथार्थ, दुःखद-वातावरण और जीवन-संघर्ष के करुण-गान सुनने को मिल रहे हैं। उनमें श्रमजीवियों की पूंजीपतियों के प्रति हुंकार जाग रही है। ऐसे गीतों में श्री निरंकार देव सेवक का अपना विशेष स्थान है। वे मज़दूरों की आह में आह मिलाकर गाते हैं:—

देह दुर्बल, प्राणजर्जर, खिन्न मन मज़दूर हैं हम।
ये महल हमने बसाये ज़ोर नस-नस का लगाकर,
वे महल हमने सजाये रक्त रग-रग का सुखाकर;
विश्व के वैभव विलासों के सभी साधन जहाँ हैं,
वे महल हमने उठाए व्योम को नीचा दिखाकर;
किन्तु उनके देखने तक को तरसतीं आज आँखें,
हाय! खुद अपने बसाये स्वर्ग से भी दूर हैं हम।
देह दुर्बल, प्राण जर्जर, खिन्न मन मज़दूर हैं हम।

अथवा 'अँगारों का गीत' में कवि की कितनी ज़बरदस्त हुंकार है, कितना महान विद्रोह है—

व्यर्थ है संसार में अब कृष्ण की देना दुहाई;
व्यर्थ है अब मानना बातें मुहम्मद की बताई।
रामजी की शक्ति-पूजा से नहीं कुछ लाभ सम्भव;
और ईसा की शरण में भी न जाने से भलाई।
धर्म बदला, देवता बदले, समय बदला हुआ है;

इस नए युग के विधाता क्रान्ति के अवतार हैं हम ।
क्षार मत समझो हमें, ज्वाला भरे अंगार हैं हम !

हम बसाएंगे धरा पर सर्व-जन-सुख-स्वर्ग सुन्दर;
हम करेंगे देवताओं को मनुजता पर निछावर ।
कुछ नहीं जग में कि जिसके सामने नत शीश हों हम;
विश्व में सब कुछ हमारे वास्ते, हम सब बराबर ।
आज दुनिया के लिए जो स्वप्न है कल सत्य होगा;
एक नूतन सृष्टि के निर्माण के अवतार हैं हम ।
क्षार मत समझो हमें, ज्वाला भरे अंगार हैं हम !

काव्य कला की दृष्टि से भी आधुनिक गीतों में अनेक नवीन अन्तर आए हैं जिनका उल्लेख आगे किया गया है ।

प्राचीन और नवीन

गीतिकाव्य का तुलनात्मक सारांश

भारतीय गीतिकाव्य की स्वतन्त्र परम्परा जयदेव के 'गीत गोविन्द' से प्रारम्भ होती है । इसके प्रभाव से ही मैथिल-कोकिल विद्यापति ने राधा-कृष्ण के श्रृंगारिक जीवन को अपनाकर हिन्दी में सर्वप्रथम गीतिकाव्य की प्रतिष्ठा की । यद्यपि उनसे पहले चारण काल में भी वीर रसात्मक गेय गीतों में काव्य की रचना हो चुकी थी, किन्तु वे शुद्ध गीतों में सम्मिलित नहीं किए जा सकते क्योंकि वे वर्णन प्रधान हैं । वीसलदेव रासो में जो वीर गीति-काव्य है, लौकिक प्रेम का भावात्मक स्वरूप मिलता है । कहीं कहीं उत्साह वर्द्धक भावोद्रेक भी है, किन्तु वह प्रधानतया संयोग और वियोग श्रृंगार की ही धारा प्रवाहित करता है । 'आल्हखण्ड' शुद्ध वीर-गीतिकाव्य कहा जा सकता है, किन्तु उसमें उत्साह के भौतिक और वाह्य उपकरणों के सहारे ही प्रबन्ध रूप में वीर रस की अभिव्यक्ति है । आधुनिक वीर-गीतों की भाँति न उसमें मुक्तकता है और न मानसिक निर्देश । युद्ध-भूमि में होने वाले उत्कर्षों

का ही ओजस्वी वर्णन है। मन में इस उत्साह के कारण जो उछल कूद और उसकी प्रतिक्रिया होती है उसका अभाव है।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण को अपनाकर रीतिकालीन कवियों के लिए तो अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया, पर भक्ति काल के कवियों ने उसकी भावनाओं को वहीं का वहीं रहने दिया। कुछ समय तक मुसलमानों की संस्कृति और इस्लाम के प्रभाव से देश में भय और वैमनस्य की भावना जागृत रही। उसका नाश करने के लिए सन्त कवियों ने गोरखनाथ के हठयोग से प्रभावित होकर तथा इस्लाम और हिन्दू धर्म का सम्मिश्रण करके निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया जिसमें मनुष्य मात्र को भक्ति करने का और प्रेम व्यवहार से रहने का आदेश दिया। सन्त कवियों के गीतों में इस सुधारवादी भावना के साथ आधुनिक रहस्यवाद और प्रेम-विरह की अभिव्यंजना की गई। किन्तु भाव-भाषा में वे बहुत पिछड़े रहे। उनके पदों में अभिव्यंजना को इतना स्थान नहीं जितना वर्णन शैली को, क्योंकि उनमें बाह्य संसार की प्रधानता है। उनका प्रेम नवीन गीतों की भाँति ही अलौकिक है किन्तु उनमें प्रकृति का सामंजस्य नहीं है और स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक संकेत से मत का निरूपण मिलता है। उन कवियों ने अज्ञात विश्व-विभूति को एक विशेष नाम 'राम' देकर उसकी प्रियतम के रूप में कल्पना की है और स्वयं उसकी प्रियतमा बनकर विरह के सन्ताप में करुण गीत गाए हैं। किन्तु आधुनिक गीतों में रहस्यवादी भावना के होते हुए भी परमात्मा का किसी विशेष नाम से उल्लेख नहीं पाते। उसका स्वरूप प्रकृति के कण-कण में सौन्दर्य होकर बिखरा पड़ा है, वह शून्यलोक का वासी नहीं है। न कवि उसकी प्रियतमा है और न वह कवि का प्रियतम। स्पष्टतया वह सर्वव्यापक परोक्ष सत्ता है, जिसका पूर्ण आभास पंत जी के 'मौन-निमन्त्रण' गीत में मिलता है।

भक्तिकाल में राधाकृष्ण के दिव्य चरित्रों की अनुभूति, मोक्ष-साधन और भक्ति-भाव से गीतिकाव्य का सृजन हुआ। उनका उद्देश्य अपने आराध्य को गीतांजली चढ़ाने का था जिससे उनकी आत्मा को कल्याण मिले। इनका प्रेम भी यद्यपि अलौकिक ही है, किन्तु उसमें साकार सत्ता का

आधार माना गया है। इस काल के कवियों में अन्तश्चेतना उसी प्रकार मिलती है जैसी कि नवीन कवियों में। विनय के पद उनके अन्तर्जगत के पूर्ण चित्र हैं। भक्ति काल के पदों में गीति-काव्य की सब विशेषताएँ, पूर्णतया मिलती हैं। शुद्ध मुक्तक गीत विनय के पद हैं तो प्रकरण वद्ध सूर-सागर, कृष्ण गीतावली और राम गीतावली हैं। जिनमें मुक्तक और प्रबन्ध दोनों का सामंजस्य हुआ है। आधुनिक काल में 'कामायनी' इसी श्रेणी का काव्य है। राधा-कृष्ण के साथ इस काल में राम की भक्ति भी समुन्नत हुई किन्तु वह कृष्ण भक्ति के समान विस्तृत और व्यापक न हो पाई। भक्त-कवियों ने अपने पदों में प्रभावान्विति का विशेष ध्यान रक्खा है। फलस्वरूप उनके पदों में भाव व्यापक होकर अन्तिम पंक्ति में केन्द्रित हो जाता है। आधुनिक गीतों में यह बात प्रायः नहीं पाते। उनमें भाव समतुल्य चलता है। अपनी भक्ति को पाने के लिए भक्त कवियों ने प्रकृति का आश्रय नहीं लिया है, यद्यपि राधा-कृष्ण के रास सम्बन्ध में वृन्दा-वन, मधुवन, जमुना और वन के साथ सम्पूर्ण प्रकृति की शोभा का भी चित्रण किया है, किन्तु उसको अपने भक्ति-भाव में सजग नहीं किया केवल वर्णन की वस्तु ही रहने दिया। जबकि आधुनिक गीतों में प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य के सहारे ही अज्ञात की अनुभूति हुई है। भक्त-कवियों ने एक नियमित भाषा का ही पदों में प्रयोग किया है और वह है सुकोमल ब्रजभाषा। भाषा परिष्कार में वे नवीन कवियों के समकक्ष आते हैं; क्योंकि दोनों ने अपनी अपनी भाषा का परिष्कार करके उसे मृदुल बनाया और सार्व लौकिक साहित्यिक रूप दिया किन्तु भावना में दोनों में अन्तर हो गया है। व्यक्तित्व के विचार से दोनों कालों के कवियों में आश्चर्य जनक परिवर्तन हुआ है। आध्यात्मिक और धार्मिक वातावरण में समुन्नत भक्त कवि संत भी होते थे। पर आज धार्मिकता का विरोधी, आध्यात्मिकता का सूक्ष्म दर्शक, समाज के आर्थिक मूल्य में पला कवि संत से कोसों दूर है और सन्त कवि से। भक्ति-काल में जो दोनों एक थे अब अलग होकर दो हो गए हैं जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं।

काव्य-कला की दृष्टि से भी गीतों में बहुत परिवर्तन आ गया है। आधुनिक गीतों में विभाव पक्ष के साथ भाव पक्ष भी अधिक व्यापक हो गया है। वर्णन शैली का त्याग और भावव्यंजना का विकास हुआ है। सौन्दर्यानुभूति भी आधुनिक गीतों में काव्य-कला का एक अंग होकर आती है। भक्ति काल में यह सौन्दर्यानुभूति केवल आराध्य के रूप-चिन्तन में ही मिलती है, किन्तु आज वह एक सर्व व्यापक कला हो गई है। रूप-सौन्दर्य के साथ उन्होंने भाव-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य को भी प्रधानता दी है जिससे उनका प्रेम कुछ सार्व लौकिक स्वरूप रखता है किन्तु आधुनिक गीतों में व्यक्तिगत अनुभूति के कारण एकान्तिक प्रेम की प्रधानता पाते हैं। प्राचीन प्रणाली में भाव को व्यक्त करने का ढंग प्रायः अभिधा द्वारा ही था किन्तु नवीन गीतों में लाक्षणिकता का आश्रय लिया जा रहा है जिससे भाव अधिक व्यंजक हो रहा है। साथ ही प्रतीकों द्वारा उसे और स्पष्ट करने का प्रयत्न देखते हैं। पर उससे कभी कभी दुर्बोधता भी आ जाती है। प्राचीन काव्य-कला में विशेष कर रस और अलंकार की प्रवृति पाते हैं किन्तु आधुनिक गीतों में उनके ऊपर कोई विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता। स्वतः जो आ सकते हैं आ जाते हैं। किन्तु अंग्रेज़ी के प्रभाव से कुछ और अलंकार प्रयुक्त होने लगे हैं—जैसे मानवीकरण (Personification), विशेषण-विपर्यय (Transfered Apethet), ध्वनि-शब्द इत्यादि। एक सबसे बड़ा अन्तर आया सुख-दुख की कल्पना और अनुभूति में। सूर की गोपियों में और अन्यत्र भी हम यह पाते हैं कि वे अपने दुख में सम्पूर्ण प्रकृति को दुखमय ही अनुभव करती हैं। हरे भरे मधुवन की खुशहाली को देखकर विरह सन्तप्त गोपियाँ सहसा कह उठती हैं,—

मधुबन तुम कत रहत रहे।
बिरह बियोग श्याम सुन्दर के ठारे क्यों न जरे॥

पर आज हम दुख में भी सुख की अनुभूति करते हैं और सुख में दुख की। करुणा में मधुर अनुभूति का संचार पाते हैं—

पीड़ा में तुमको ढूंढ़ा,
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

अथवा—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से और सुख दुख से।

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल में गीतिकाव्य का अन्तरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियों से ह्रास होता चला गया क्योंकि कवियों में भक्ति की भावना न रह गई थी और न आत्म-साधन की चिन्ता ही। काव्य का उद्देश्य भी आत्म-परितोष न था। जो इधर उधर कोनों में पड़े भक्त थे, वे अवश्य भक्ति काल की प्रवृत्तियों पर ही पदों की रचना करते रहे।

भारतेन्दु जी ने भाव-भाषा दोनों दृष्टि से गीति-काव्य को समुन्नत किया। राधा-कृष्ण की अनन्य भक्ति की कल्याणकारी भावना के साथ देश-प्रेम और दुखी जनों की भावना को भी भक्ति के आवेश में सम्मिलित किया। इनकी तीव्र व्यजंना सत्यनारायण जी के पदों में भी मिलती है। वियोगी हरि जी ने राधा-कृष्ण की भक्ति में ही पदों को गाया किन्तु आधुनिक प्रवाह से प्रभावित होकर उनमें वीर रसात्मक आत्म-निवेदन किया। जिससे प्राचीन प्रवृत्तियों के साथ उत्साह और वीर रस का भक्ति और शान्त रस के साथ अनुपम सामंजस्य हो गया। इधर पाठक जी ने खड़ीबोली में भारत देश के गीतों की उत्कृष्ट रचना की जिससे प्राचीन प्रणाली छूट गई। ब्रजभाषा के भ्रमरगीत नाम के मधुर पदों में भी पाठक जी ने प्रेम और सुधार को ही गाया। गुप्त जी ने प्रबन्ध काव्यों में भी स्वतंत्र मुक्तक गीतों की रचना की जिनमें प्रकृति को प्रधान रख कर उसके सौन्दर्य में भावभिव्यंजना की। धीरे धीरे गीतों में प्रकृति भावमय होती चली गई। वह मूर्त से अमूर्त स्वरूप पाकर काव्य-कला की सूक्ष्मता में मिल कर एक हो गई।

प्रसाद जी से गीतों की काया ही पलट गई। भाषा सर्वत्र खड़ीबोली

और भावनाएँ रहस्यवादी और निराशा से पूर्ण हो गईं। लौकिक आलम्बनों से अलौकिक प्रेम की अनुभूति की गई। करुण और वियोग शृंगार ही प्रधान रस रहे। शान्त रस और वात्सल्य रस प्रायः लुप्त हो गए। देश-प्रेम के गीत भी रचे गए। गीतों को साहित्यिक कलेवर देने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया और संगीत भी क्लासिकल प्रयुक्त हुआ जिससे गीतों का स्तर बहुत ऊपर उठ गया। प्रेम की अभिव्यंजना का प्राधान्य रहा। आध्यात्मिक और दार्शनिक भावना के होते हुए भी भक्ति की प्रवृत्ति नहीं मिलती। न आत्म-कल्याण में ही विश्वास रह गया है। संसार के संघर्ष में निराशा बढ़ती चली जा रही है। कवियों ने भक्तिकालीन पदों की भांति अपने गीतों में नाम रखने की प्रणाली का सर्वथा त्याग कर दिया है। छन्द में भी स्वतंत्रता से कार्य लिया गया है। कोई विशेष बँधा हुआ छन्द प्रयुक्त नहीं होता। हाँ इतना अवश्य है कि पिंगल-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक चरण में सम मात्राएँ रक्खी जाती हैं। तुकान्त और अतुकान्त दोनों प्रकार का अनुसरण किया जाता है। कभी कभी सम्पूर्ण गीत भिन्न भिन्न छन्दों के चरणों को मिलाकर बना लिया जाता है। प्रायः 'टेक' की पुनरावृत्ति का प्रचलन है। निराला जी तथा पंत जी ने लय के आधार पर ही मुक्त-छन्दों की भी रचना की है।

आधुनिक काल में यद्यपि प्राचीन गीति-काव्य की परम्परानुसार प्रायः सभी भावनाओं का त्याग पाते हैं किन्तु वे उतने ही महत्त्व पूर्ण हैं जितने कि सूर, मीरा और तुलसी के पद। प्रगीतत्त्व की समस्त विशेषताओं का उनमें यथेष्ट निर्वाह हुआ है। आधुनिक गीति-काव्य पर अंग्रेज़ी लिरिक (Lyric) का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। जिस कारण अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त भावावेश को प्रधानता मिलती जा रही है। और यह लिरिक का मुख्य अंग समझा जाता है। अंग्रेज़ी से भी अधिक प्रभाव पड़ा है बंगला भाषा के गीतों का। वह भी विशेष रूप में रहस्यवादी गीतों पर। क्योंकि रहस्यवाद अपने नवीन रूप में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' द्वारा ही प्रचलित हुआ है और वहीं से प्रसाद, पंत और निराला जी के द्वारा हिन्दी में आया। अतएव रहस्यवादी गीतों को यदि बंगला की अथवा 'गीताञ्जलि' की देन कहें तो अत्युक्ति

न होगी। राजनीति और साहित्य के समन्वय से अब प्रवृत्ति वातावरण के वास्तविक, करुण चित्रों की ओर हो रही है, जिसमें भारतीय समाज के विभिन्न अंगों का पारस्परिक संघर्ष, आर्थिक शोषण और सामाजिक तिरस्कार की भावनाएँ प्रस्फुटित हो रही हैं।

इस प्रकार आधुनिक गीतिकाव्य को भावना के आलोक में हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं,—(१) सं० १६५०—७५ तक; (२) सं० १९७५—१६६५ तक और (३) सं० १६६५ के पश्चात्। अर्थात—

भारतेन्दु-सत्यनारायण काल—दुर्दशा तथा भक्ति के पद

प्रसाद काल—रहस्यवादी गीत।

वर्तमानकाल—प्रगतिशील गीत।

---

[१]

विद्यापति ठाकुर——मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर का हिन्दी-गीति-काव्य में आदरणीय स्थान है। अपने पूर्वजों की भाँति ये भी बड़े विद्वान और प्रतिभाशाली कवि थे। आज से पाँच सौ से भी कुछ अधिक वर्ष पहिले उन्होंने अपनी सरस पदावली में राधा-कृष्ण के प्रेम-आनन्द के जो मधुर गीत गाये उनसे आज भी वे मैथिली के सर्वोपरि कवि हैं। उस समय उनकी लोकप्रियता केवल मिथिला में ही सीमित थी किन्तु आज उनका बंगाल और हिन्दी प्रदेश में भी विशेष आदर है। वे हमारे गीति-काव्य के गौरव हैं।

विद्यापति राजाश्रित कवि थे। उनके आश्रय-दाताओं में सब से प्रमुख मिथिलेश महाराज शिवसिंह थे। शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा (लक्ष्मणा) देवी के विद्यापति विशेष अनुग्रह के पात्र थे। उन्होंने अपने अधिकाँश गीत उन्हीं की सन्तुष्टि के लिए बनाए। अतएव विद्यापति में दरबारी कवियों की प्रवृत्तियाँ यथेष्ट रूप में पाई जाती हैं।

सबसे पहले उन्होंने अपने समय की साहित्यिक अपभ्रंश 'अवहट्ट' भाषा में ही कविता की किन्तु जनता को यह भाषा रुचिकर न होने से उन्होंने

मैथिली में ही पद-रचना आरम्भ कर दी। मैथिली हिन्दी की ही एक बोली है। कवित्त्व-शक्ति और भाषा-माधुर्य पर मुग्ध होकर जनता ने उन्हें अनेकों उपाधियाँ दे डाली। जैसे—अभिनव जयदेव, सुकवि कण्ठहार, कविशेखर, कवि रञ्जन, और राज पंडित इत्यादि।

विद्यापति ने संस्कृत में भी अनेक ग्रन्थ लिखे और 'अवहट्ट' में भी। लेकिन मैथिली की 'पदावली' से ही विद्यापति सर्वत्र लोकप्रिय हुए। 'पदावली' में उनके समस्त जीवन के रचे हुए पदों का संग्रह है। उनके पद तीन श्रेणियों में विभाजित किए जाते हैं,—श्रृंगार-सम्बन्धी, भक्ति-सम्बन्धी और विविध। श्रृंगार-सम्बन्धी पदों में राधा-कृष्ण के श्रृंगारिक-जीवन का नग्न चित्रण किया है। भक्ति के पदों में शिव की नचारियाँ (नृत्य गीत); गंगा, दुर्गा, गौरी की प्रार्थनाएँ और कृष्ण-भक्ति के पद हैं। विविध गीतों में प्रहेलिका (पहेलियाँ), कूट और राजा शिवसिंह के राज्यारोहण-सम्बन्धी वर्णनात्मक पद हैं। श्रृंगार-सम्बन्धी और भक्ति के पदों का ही विशेष प्रचार है। श्रृंगारिक पदों का प्रचार विशेष कर श्रृंगारिक और विलास-प्रिय स्त्रियों में ही है। श्रृंगारिक पदों के चार विभाग इस प्रकार हैं,—तिरहुति, नायक-नायिका सम्बन्धी वासना मय श्रृंगार के पद; वट गमनी, विरह-वियोग सम्बन्धी अभिसार के पद; योग, तन्त्र-मन्त्र से प्रभावित पद; और उचिति, विनम्र निवेदन के पद। अतएव इनका गीति-काव्य बहुत व्यापक है।

पदावली में सर्वत्र राधा-कृष्ण का वर्णन सांसारिक श्रृंगार के रूप में किया गया है। जिसमें वासना है, अश्लीलता है। कोई भी भक्त अपने आराध्य का साक्षात्कार इतनी नग्नता से नहीं कर सकता। राधा-कृष्ण को प्रेम नाटक के नायक-नायिका बना कर विद्यापति ने रीति-काल के कवियों के लिए अच्छा वातावरण बना दिया। ऐसे पदों में आत्मा को कुछ भी जागृति नहीं मिलती। यह सत्य है कि राधा और कृष्ण दोनों परम-भाव से एक ही शक्ति के दो रूप हैं। विद्यापति का प्रेम उस अनन्त की विश्व-व्यापी सत्ता का रूप ही है। उनके लिए राधा-कृष्ण प्रेम की साक्षात मूर्ति हैं। ईश्वर कृष्ण हैं और कृष्ण प्रेम। किन्तु उनके प्रेम की सांसारिक नग्नता में पारलौकिक विशुद्ध प्रेम की

सूक्ष्म भावना को अन्तः करण में लाना सर्व साधारण के लिए महा कठिन है। महाप्रभु चैतन्य की सी अन्तर्दृष्टि ही भाव-जगत के स्तर से ऊपर उठ कर उनके शृंगारिक पदों में परिष्कार पा सकती है। फिर भी राधा-कृष्ण सम्बन्धी सभी पद अश्लील नहीं हैं; किन्तु जो हैं वे उन्हें राधा-कृष्ण की भक्ति-पद से नीचे गिरा कर मन में विलास की भावनाओं को जाग्रत करते हैं।

शिव की नचारियों में उनकी अनन्य-भक्ति, आत्म-समर्पण और विरक्ति का पूर्ण आभास मिलता है।

शिव-पार्वती के आदर्श प्रेम और पवित्र भक्ति में पाप-नाशक भावनाओं का विकास हुआ है। अन्त समय में वे विभ्रान्त होकर कह उठते हैं,—

हम सौं रुसल महेसे,
गौरि विकल मन करथि उदेसे।

यदि वे राधा-कृष्ण के भक्त होते तो अन्त समय में शिव को क्यों अपनाते। अतएव वे वैष्णव न होकर शैव थे। राधा-कृष्ण सम्बन्धी पद उन्होंने आत्म-परितोष के लिए नहीं वरन् अपने आश्रय दाताओं और दरबारियों के लिए रचे थे। फिर उनमें सच्ची भक्ति कहाँ मिलती।

राधा-कृष्ण के विरह सम्बन्धी पद बड़े मार्मिक, वेदनायुक्त और वियोग के स्वाभाविक चित्र हैं। वियोग में राधा दिन-दिन सूख कर कांटा हो रही हैं। उनकी दशा का कितना सुन्दर वर्णन है—

माधव से अब सुन्दरि बाला।
अविरल नयन बारि झरनीझर जनु सावन घन माला॥

* * *

उपवन हेरि मुरछि पड़ु भूतल चिन्तित सखिजन संगा।
पद अंगुलि दइ छिति पर लीखई पनि कपोल अवलम्बा॥

पदावली में शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक और मधुर है। नैसर्गिक माधुर्य और भावना की कोमलता में एक एक पद अनमोल है। वसन्त में वृन्दावन की शोभा का कोई पार नहीं। फिर नवल किशोर के रास-विहार से और ही आनन्द आ गया है। कितना मधुर वर्णन है—

नव वृन्दावन नवनव तरुगण, नवनव विकसित फूल।
नवल वसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलिकूल॥
विहरई नवल किशोर।
कालिन्दी पुलिन कुञ्जवन शोभन नवनव प्रेम विभोर॥

शब्द एक के बाद दूसरे भाव और भाषा के स्वाभाविक प्रवाह में माधुर्य की मिश्री सी घोलते चलते हैं। मैथिली में ये भाव-जगत के दिव्य-आलोक हैं।

बहुत से जीवन को व्यर्थ गवाँकर उनके मन में निराशा का घनघोर बादल उठ आया। उनके आत्म-निवेदन में कितना विश्वास है, कितनी करुणा है—

ए हरि बन्दौं तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि पारक कओन उपाय॥

पदावली के कारण ही आज भी विद्यापति मिथिला में कुल-कामिनियों के सुकुमार अधरों पर नाच रहे हैं। उनकी भाषा में, उनके जीवन में दिव्य-मिठास आ गया है। महाप्रभु चैतन्य जैसे परम-भक्त उनके पदों को गाते-गाते विमूर्छित हो जाते थे। आज भी उनके पद अनेक उत्सवों में गाए जाते हैं। उनकी महेश-वाणियों का शिव-मन्दिरों में नित गान होता है। उनकी कोमल-कान्त पदावली में भाव-माधुर्य है और कोकिल का कोमल कलाप है। किन्तु आत्म-निवेदन और आत्माभिव्यक्ति की प्रचुरता नहीं। पदों में वर्णन-शैली का प्रभाव अधिक है। काव्य-गुणों का स्वाभाविक समावेश हुआ है। स्वाभावोक्ति बहुत सरल और मार्मिक है। रूपकातिशयोक्ति में तो वे सूर से भी आगे बढ़ गए हैं। लोक-भाषा होने के कारण प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है। मानव-शृंगार और हृदय की वेदना का सूक्ष्म विवेचन है। पर उनके विरह में मीरां की-सी व्याकुलता और करुणा नहीं।

विद्यापति के पद संस्कृत में गीति-काव्य के सर्वेसर्वा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की ही अमर देन हैं। विद्यापति के बाद मैथिली में गोविन्ददास जी का स्थान है, जो भाषा-सौन्दर्य में, शब्द चयन में विद्यापति से भी बढ़े चढ़े हैं। "विद्यापति कविताकार हैं तो गोविन्ददास कलाकार।' उनकी भाषा परिष्कृत,

साहित्यिक मैथिली है और विद्यापति की साधारण प्रचलित। गोविन्ददास ने विद्यापति की कैसी सुन्दर और उपयुक्त गुरु वन्दना की है,—

कवि पति विद्यापति मतिमान।
जाक गीत जगचित चोरायल गोबिन्द गौरि सरस रस गान॥
भुवने छवि जत भारती बानि।
ताकर सार सार-पद सञ्चए बांधल गीत कतहुँ परिमानि॥
आनन्दे नारद ने धरि थेहा।
से आनन्द रस जग भरि बरिसल सुखमय विद्यापति रस मेहा॥
जत जत, रसपद कएलन्हि बन्धे।
कोटिहि श्रवण फल पाइय सुनइत आनन्द लागल धन्धे॥

जग को आनन्द-रस से भरने वाले नारद रूप विद्यापति के कुछ सरस पद नीचे दिये जाते हैं।

देख देख राधा रूप अपार।
अपरुब के विधि आनि मिलाओल, क्षिति तले लवनिसार॥
अङ्गहि अङ्ग अवँग मुरझायत, हेरए पड़इ अधीर।
मनमथ कोटि मथन करु जे जन से हेरि महि महँ गीर॥
कत कत लछिमी चरनतल ने उछय रङ्गिनि हेरि विभोरि।
करु अभिलाषा मनहिं पद-पङ्कज अहोनिस कोर अगोरि॥

* * *

कुसुमित कानन हेरि कमल-मुखि, मूंदि रहे दुहुँ नयन।
कोकिल कलरव मधुकर धुनि-सुनि, कर दय झांपल कान॥
माधव सुनसुन बचन हमार।
तुव गुन सुन्दरि अति भेल दूबरि, गुनि गुनि प्रेम तोहार॥
धरनि धरय धनि कतबेरि बैसति, पुन तेहि उठइ न पार।
कातर दिठि करि चौदिस हेरि हेरि, नयन गलय जलधार॥
तोहर बिरह दीन छन छन तनुछीन, चौदसि चांद समान।
भन विद्यापति शिवसिंह नरपति लछिमा देइ परमान॥

* * *

नव बृन्दावन नवनव तरुगण, नवनव विकसित फूल ।
नवल बसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलिकूल ॥
विहरइ नवल किशोर ।
कालिन्दी पुलिन कुञ्जवन शोभन नवनव प्रेम विभोर ॥
नवल रसाल मुकुल मधु मातल नव कोकिल कुल गाय ।
नव युवतीगण चित उमतावइ नव रसे कानन धाय ॥
नव युवराज नवल नव नागरि मिलये नव नव भाँति ।
नित नित ऐसन नव नव खेलन विद्यापति मति माँति ॥

*   *   *

माधव से अब सुन्दरि बाला ।
अविरल नयन बारि झरनीझर जनु सावन घन माला ॥
पुनिमक इन्दु विन्दु मुख सुन्दर सो भेला अब ससि-रेहा ।
कलेवर कमल क्रांति जिनि कामिनि दिन दिन खिन भेल देहा ॥
उपवन हेरि मुरछि पडु भूतल चिन्तित सखिजन संगा ।
पद अंगुलि दइ छिति पर लीखई पनि कपोल अवलम्बा ॥
ऐसन हेरि तुरितु हम आयनु अब तुहु करह विचार ।
विद्यापति कह निकरुन माधव बूझनु कुलिसक सार ॥

---

[२]

गोविन्ददास झा—ये दरभंगा के महाराज सुन्दर ठाकुर के दरबारी कवि थे और पण्डित थे। वे राधा-कृष्ण के परम-भक्त थे। इसी से इनके पदों में विद्यापति के पदों की सी अश्लीलता नहीं आने पाई। राधा-कृष्ण के श्रृंगार-सम्बन्धी पद भी "श्रृंगारिक भजन" कहलाते हैं। भाषा साहित्यिक होने के कारण विशेष परिष्कृत है और मधुर है। काव्य सौन्दर्य से इनके पद परिपूर्ण हैं। विद्यापति भाव में महान हैं तो गोबिन्ददास भाषा-शौष्ठव में। "विद्यापति के समान ही इनके गीतों में ओज का पूर्ण आभास है, शब्दायोजन

का श्रेष्ठ सौरभ है तथा उनके गीत कविता-कानन के कमनीय कुसुम हैं। बल्कि यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो कम से कम इतना कहे बिना मैं नहीं रह सकता कि गोबिन्ददास की भाषा विद्यापति से विशेष प्रौढ़ है, तथा उनके पद अधिक पुष्ट।" अतएव मैथिली में विद्यापति के साथ गोबिन्ददास को भुलाया नहीं जा सकता। गोबिन्ददास विद्यापति से डेढ़ सौ से भी अधिक वर्ष पश्चात् सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। उन पर विद्यापति का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। गोबिन्ददास उनको अपना काव्य-गुरु मानते थे। गोबिन्ददास विशिष्ट, विद्वत समाज में सबसे अधिक प्रिय कवि हैं। अनुप्रास को बांधने में वे सिद्धहस्त हैं। कभी-कभी तो पूरे पद में एकाक्षर अनुप्रास बड़े समुचित प्रवाह के साथ चलता है। फिर भी उसके भाव में शिथिलता नहीं आने पाती। इस दृष्टि से निम्न पद कितना सुन्दर है—

कुवलय कन्दर कुसुम कलेवर कालिम कान्ति कलोल।
कोमल केलि कदम्ब करम्बित कुंडल कान्ति कपोल॥
जय जय कृष्णचन्द्र कमलेश।
कालिय केशि कंस करिकर्षण केसर कुंचित केश॥ ध्रुव॥
कुल वनिता कुच कुंकुम अंचित कुसुमित कुन्तल बन्ध।
कालिन्दि कमल कलित कर किसलय कौतुक कन्दन कन्द॥
कमला केलि कलपतरु कामद कमनीय कटि करीन्द्र।
कृपण कृपाकर कलि कलुषांकुश कह कवि दास गोबिन्द॥

* * *

शिशिरक शीत समापलि सुन्दर से हेन सुरत सन्देशे।
स्मर-शर-सम शर शशिकर सशिकर असह सहय तनुशेषे॥
सुनह श्याम सकल गुणवन्त।
शुद्ध संवादे कि सुमुखि सम्बोधब सुखमय समय वसन्त॥
शीतल सुरभित सरस समीरण सतत सँतापय गात।
सुपन समागम साध सुधामुखि सूतइ सरसिज पात॥

सखिनि समाज साँझ से सेधनि सगरहि शरबरि जागि ।
सुमरि सनेह सोहागिनि संशय गोबिन्ददास दिठि आगि ॥

* * *

की कर राहिक नेहा ।
तुअ गुण गणि गणि दशमी दशा अमि दुरबल भेल निज देहा ॥
माधव तुहुँ जब आयल मधुपुर राहिक अथिर परान ।
कान्ह कान्ह कय कुकरम सुन्दरि दिन रजनी नहि जान ॥
अंगुलि मुँदरि सैह भेल कङ्कण कङ्कण ग्रीमक हार ।
चान कला सम दिन दिन छिण भेल हास श्वास भेल सार ॥
ऐसन बचन सुनल जब माधव चलइत पद युग काँपि ।
प्रेम भरै पन्थ विपथ नहि दरशय नीरै नयन युग झाँपि ॥
निभृत निकुंज मिलल जब माधव त्वरितहि राहिक पास ।
कान्हक हृदय निगड़ भुज बन्धन कहतहि गोबिन्ददास ॥

* * *

पदुमिनि ! पुन परबोधब तोर ।
पीताम्बर पद पङ्कज परिहरि कामिनि कातर तोय ॥ध्रुव॥
पुछइ पहिले पाणि उलटायसि परिजन पर करि मान ।
प्रिय परिवाद परश परिहारसि पुर पायल पचवान ॥
पिरितक पाँति पाठ परिहाससि पहु परिणति नहि मान ।
पाहु न पुतरि परखि पय पेखल परपीड़न नहि जान ॥
पुरुषोत्तमक प्रेम परिरम्भण पुनवति पावय कोय ।
प्राण पियारी गुण परि पहुलय गोबिन्ददास कह तोय ॥

---

[३]

महात्मा कबीरदास—कबीर साहब बड़े सदाचारी, सत्यनिष्ट और कर्तव्य परायण थे । संत-सत्कार और समागम में ही उनका जीवन व्यतीत हुआ था । मुसलमान होते हुए भी बाल्यावस्था से ही तिलक आदि

लगा कर हिन्दू-भक्ति-भाव से राम-नाम का जाप किया करते थे। कनक और कामिनी का उन्हें मोह न था। जाति-पांति, भेद-भाव और साम्प्रदायिक संकीर्णता के स्तर से ऊपर उठकर उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से मानव को विश्व-बन्धुत्व का महान सन्देश दिया और आत्मा को विश्व-व्यापक निर्गुण राम के प्रिय-मिलन का। वे प्रेमोपासक रहस्यवादी कवि थे। समाज-सुधार में वे कट्टर थे, ज्ञान के सैद्धान्तिक निरूपण में शुष्क, किन्तु विरहिणी आत्मा की अनन्त वेदना में भावुक और सरस कवि। उनके काव्य में सभी बातों का सविस्तार निरूपण हुआ है। काव्य के आधार हैं—दोहा और पद।

उनके गीति-काव्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। संक्षेप में हम उनके पदों को चार श्रेणियों में रख सकते हैं—(१) नीति के पद, (२) सिद्धान्त और ज्ञानोपदेश के पद, (३) विरह सम्बन्धी आत्म-निवेदन के पद और (४) कर्त्ता-निरूपण में कोरे वर्णन के पद। आत्म-निवेदन के पदों में प्रगीतत्त्व का पूर्ण विकास हुआ है। ये पद संक्षिप्त हैं, भावपूर्ण हैं और विरह की तीव्र वेदना में आत्मा की मधुर अभिव्यक्ति से युक्त भी हैं। कबीर की भक्ति मीरां की भांति माधुर्य-भाव की थी। इसी से उन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' और 'मिलना कठिन है, कैसे मिलौंगी पिय जाय' कहा। दोनों में प्रियतम के अनन्त मिलन की चाह है। किन्तु मीरां के प्रियतम साकार कृष्ण हैं और कबीर के ईश्वर 'सब साँसों की साँस' में विद्यमान हैं, अतएव वे उसकी अनुभूति में कह उठते हैं—'कर नैनो दीदार महल में प्यारा है।' उनके विरह में मीरां के विकल हृदय की-सी तीव्र वेदना तो है किन्तु वह सरसता नहीं, वह प्रसाद नहीं—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया तलफ़ तलफ़ के भोर किया॥

किन्तु मीरां की कितनी सुकुमार दर्द भरी आह है,—

दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जबतें तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन॥

सब्द सुनत मोरी छतिया काँपै, मीठे लागै बैन ।
मीरा के प्रभु कब र मिलोगे, दुख मेटण सुख देन ॥

विरह की ज्वाला से सन्तप्त होकर कबीर की कितनी आर्त पुकार है,—

है कोइ ऐसा पर-उपकारी पिय से कहै सुनाय रे ।
अब तो बेहाल कबीर भये हैं बिन देखे जिउ जाय रे ॥

व्यक्तिगत साधना में उनके 'प्रेम की पीर', उत्सुकता और भक्त-हृदय की विह्वलता का कोई अन्त नहीं। और यदि है तो तभी जबकि उनकी आत्मा ने परमात्मा की अनुभूति में प्रियतम का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया। उनका वियोग उनके लिए संयोग की अमर अनुभूति छोड़ गया। आनन्दोल्लास में उनकी गर्वोन्नत आत्मा से निकला,—

हम न मरैं मरि है संसारा ।
हम कूं मिल्या जियावन हारा ॥
अब न मरौं मरवैं मन मांनां ।
तेई मुए जिनि राम न जाना ॥
हरि मरि हैं तो हमहूँ मरि हैं ।
हरि न मरैं हम काहे कूं मरि हैं ॥
कहै कबीरा मन मनहि मिलावा ।
अमर भये सुख-सागर पावा ॥

प्रियतम का साक्षात्कार कर वे अनन्त सुख-सागर में समा गए। सर्वत्र राम ही राम दिखाई पड़ने लगे। तुलसी ने 'सिया राममय सब जग जानी' कहकर राम की ही विश्व-व्यापक सत्ता की अनुभूति की किन्तु कबीर उसमें मिलकर स्वयं भी राम हो गए,—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।
लाली खोजन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥

इससे उनकी भावुकता रहस्यवादी होकर ब्रह्म की सत्ता का स्पष्ट निरूपण करने में मस्त होगई और वे इस भावना में नितान्त आधुनिक से जान पड़ते हैं। आज के रहस्यवादी कवियों ने भी चिरन्तन-ब्रह्म के सौन्दर्य को प्रकृति द्वारा

अपने अन्तःकरण में खोज लिया है। श्रीमती महादेवी वर्मा कहती हैं,—

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे ?

*   *   *

अक्षत पुलकित रोम, मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !

कबीर साहब की प्रसिद्धि उनकी भावनाओं, विचारों और 'कबीरपंथ' के कारण ही है। वे कुशल प्रगीत-कवि न हो सके। अशिक्षित होने के कारण उनके पदों की भाषा प्रायः गीत-माधुरी से हीन है। उसमें कर्कशता है और शब्द-चयन सुन्दर न होने से प्रवाह में बहुत कमी है। भाषा का कोई परिमार्जित रूप नहीं। वह खड़ीबोली, पंजाबी, अवधी, पूरबी और ब्रजभाषा आदि की खिचड़ी है। केवल विरह और आत्म-निवेदन के कुछ पदों में ही भाषा मधुर और सुकुमार है,—

वै दिन कब आवैंगे माई।
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ॥

किन्तु ऐसे पदों में भी उनकी सैद्धान्तिकता न छिप सकी। उनके निम्न पदों में भक्ति-व्यंजना कितनी प्रभावशाली है,—

पायो सतनाम, गरे कै हरवा।

अथवा—

सतगुरु हो महाराज, मोपै साईं रँग डारा।
शब्द की चोट लगी मेरे मन में बेध गया तन सारा॥

अथवा—

साधो सो सतगुरु मोहिं भावै।
सत्त नाम का भर भर प्याला आप पिवे मोहिं प्यावै॥

सैद्धान्तिक कवि होने के कारण उनकी भावनाएँ प्रायः दार्शनिक हो गई हैं। जिससे भावावेश कमज़ोर पड़ गया है। जो गीति-काव्य का विशेष गुण है। लम्बे लम्बे पदों में वर्णन की बहुलता से गीतों को पर्याप्त क्षति पहुँची है और काव्य-गुणों का समावेश भी न हो सका।

यह सत्य है कि कबीर में पद-लालित्य, अलंकार और रस आदि की उत्कृष्टता नहीं, किन्तु महाकवि की प्रतिभा अवश्य है, जो उनके काव्य का अन्तरंग गुण है और वह है उनके विचारों में, कल्पना में और भाव-प्रदर्शन की शक्ति में। उसमें एक महान् सन्देश है—मानव की उदार वृत्ति का, आत्मा के परमात्मा से परम-मिलन का। इसे पाकर ही अनेक संत कवि अमर हो गए।

साधो सो सतगुरु मोहिं भावै।

सत्त नाम का भर भर प्याला आप पिवै मोहिं प्यावै॥
मेले जाय न महंत कहावै पूजा भेंट न लावै।
परदा दूर करै आँखिन का निज दरसन दिखलावै॥
जाके दरसन साहब दरसैं अनहद शब्द सुनावै।
माया के सुख दुख कर जानै संग न सुपन चलावै॥
निसि दिन सत-संगति में राचै शब्द में सुरत समावै।
कहै कबीर ताको भय नाहीं, निर्भय पद परसावै॥

* * *

वै दिन कब आवैंगे माई।

जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौ देह लगाइ॥टेक॥
हौं जांनूं जे हिल मिल खेलूं तन मन प्रान समाइ।
या कांमनां करौ परपूरन समरथ हौ रांम राइ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै चितवत रैनि विहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ॥
यहु अरदास दास की सुंनिये, तनकी तपति बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे सांई, मिलिकरि मंगल गाइ॥

* * *

पायो सतनाम, गरे कै हरवा।

साँकर खटोलना रहनि हमारी दुबरे दुबरे पाँच कहरवा।
ताली कुंजी हमैं गुरु दीन्ही जब चाहों तब खोलों किवरवा॥

प्रेम प्रीति की चुनरी हमारी जब चाहौं तब नाचौं सहरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो बहुर न ऐबै एही नगरवा॥

* * *

सतगुरु हो महाराज मोपै साई रँग डारा।
शब्द की चोट लगी मेरे मन में बेध गया तन सारा॥
औषध मूल कछू नहिं लागै क्या करै बैद बिचारा।
सुर नर मुनि जन पीर औलिया कोइ न पावै पारा।
साहब कबिर सर्वं रँग रँगिया सब रंग से रंग न्यारा॥

* * ❀

बाल्हा आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोकों यह अदेह रे
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे॥
आन न भावै, नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामी कों कामिनि प्यारी ज्यूं प्यासे कूं नीर रे॥
है कोइ ऐसा पर उपगारी, हरि सूं कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं, किन देखें जिव जाय रे॥

---

[४]

मीरां बाई—मीरां प्रेमयोगी श्रीकृष्ण की परम-भक्त थीं। गिरधर नागर की रूप-माधुरी में मतवाली हो उन्होंने अपनी दिव्य प्रेम-साधना से हिन्दी में विश्व-विश्रुत गीति-काव्य का सृजन किया। बाल्यकाल में ही माता का देहान्त हो जाने से इनका पालन पोषण इनके पितामह दूदा जी ने किया, जो परम-वैष्णव भक्त थे। अतएव बाल्यावस्था से ही मीरां में उनके प्रभाव से वैष्णव धर्म की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। विवाह होने के कुछ वर्ष पश्चात् ही उनका सुहाग-सुख वैधव्य के बज्रपात से उनके सुकुमार हृदय

में सदा के लिये विरह-वेदना की मधुर हूक सजग कर गया। उसी समय से मीराँ में अलौकिक भक्ति की धारा बह निकली और उन्होंने संसार के ऐश्वर्यों को लातमार, मुरली-माधव की एकान्त भक्ति एवं संत-समागम में अपना मन लगा दिया। यही कारण था कि इनके परिजनों ने इन्हें महाकष्ट पहुँचाया, जिससे दुखी होकर मीराँ ने गोस्वामी तुलसीदास जी से निम्न पद के द्वारा कर्त्तव्य-निर्देश की अभिलाषा की थी,—

श्री तुलसी सुखनिधान दुख हरन गुसाईं।
बारहिं बार प्रनाम करूँ अब हरो सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
बाल पने ते मीरा कीन्हों गिरिधरलाल मिताई।
सोतो अब छूटतहिं नाहिं क्यों हू लगी लगन बरियाई॥
मेरे तात पिता के सम हो हरिभक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई॥

इसके उत्तर में गोस्वामी जी का यह पद पाकर मीरां में लौकिक प्रियतम का लुटा हुआ प्यार विश्व-व्यापक चिरन्तन कृष्ण के रूप में दिव्य-प्रकाश पाकर और भी खिल गया,—

जाके प्रिय न रामवैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरीसम, यद्यपि परम सनेही॥

❀ ❀ ❀

'तुलसी' सो सब भांति परमहित, पुज्य प्रानतें प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एही मतो हमारो॥

मीराँ ने श्रीकृष्ण को प्राणधन-पति के रूप में अपनाकर परम-भाव से उनकी भक्ति की। परम-भाव में भक्ति और प्रेम के सामंजस्य से दाम्पत्य-जीवन का प्यार प्रियतम के मधुर चिन्तन में विकसित हो जाता है। भक्ति का स्वरूप प्रेम से ही निखरता है। अतएव मीराँ ने भक्ति के क्षेत्र में तो उच्च स्थान पाया ही, साथ ही प्रेम की पवित्र साधना से वे प्रेम योगिनी भी कहलाईं।

मीरां के गीत उनकी अन्तरात्मा की पुकार हैं, हृदय की कसक हैं। उनमें जो पीड़ा है, जो वेदना है वह तभी मिट सकती है जब साँवलिया स्वयं वैद्य होकर आवें। उनमें वियोगिनी का आर्तक्रन्दन है, आत्म-निवेदन है, संगीत का स्वाभाविक स्रोत है, भावना की सुकुमारता है और विरह की अनुभूति है। कल्याणकारी भावना से आराध्य और आराधक दोनों को ही अमरपद प्राप्त हुआ। उनके गीत हिन्दी-साहित्य की अपार निधि हैं। मीरां का विरह मार्मिक और गम्भीर है। विद्यापति की भांति सम्भोग-श्रृंगार की वासना की छाया तक नहीं। छोटे छोटे पदों में नारी-सुलभ सुकुमार हृदय और विरह-व्यथित-प्रेम की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। मीरां की विह्वलता में सम्पूर्ण प्रकृति कृष्णमय होकर नाच उठती है। सर्वत्र श्याम ही श्याम दिखाई पड़ते हैं।

"लोचन श्यामरु, बचनहिं श्यामरु
श्यामरु चारु निचोल।
श्यामर हार हृदय मणि श्यामर
श्यामर सखि करु कोल॥"

—गोबिन्ददास

मीरां के हृदय में सूर की गोपियों की भाँति तीव्र वेदना है किन्तु वह उतनी व्यापक नहीं। लोक-लाज का बन्धन तोड़कर मीरां ने भी 'अँखियां हरि के हाथ बिका दीं' हैं, वह प्रियतम की अनुभूति में गा उठती है,—

बसो मेरे नैनन में नंद लाल।
मोहनी मूरति साँवरी सूरत, नैना बने बिसाल॥

मीरां का आत्म समर्पण गोपियों से कहीं उच्च था। गोपियां श्रीकृष्ण की प्रेमिकाएँ थीं पर मीरां प्रेयसि—पत्नी। तभी उनके प्रेम की व्यंजना इतनी स्पष्ट है। कृष्ण में और उनमें लेश-मात्र भी दुराव नहीं,—

रघुनन्दन आगे नाचूँगी
नाच नाच रघुनाथ रिझाऊँ प्रेमी जन को जाचूँगी॥
लोक लाज कुल की मरजादा या में एक न राखूँगी।
........"मीरां हरि रंग राचूँगी॥

उनकी आध्यात्मिक भावना हृदय की विह्वलता से बड़ी मधुर हो गई है। संत कवियों की भाँति उनके निम्न पद में रहस्यवादी भावना का कितना मधुर चित्रण है,—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ ॥
इन नैनन मेरा साहब बसता, डरती पलक न नाऊँ री ॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री ॥
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बल जाऊँ री ॥

निम्न पद में विरह कातर मर्म-वेदना और संगीत की कितनी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है,—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी,
मोरा दरद न जाणै कोइ ।

उनके गीतों की विशेषता हृदय की दशाओं के मार्मिक चित्रण में ही है, काव्य-कला के सौन्दर्य में नहीं। प्रेम-साधिका मीरां ने कभी काव्य-कला की ओर ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि वे तो माधव की लगन में गागा कर प्रेमांजलि चढ़ाया करती थीं। अतएव उनके गीत काव्य-शास्त्र की मर्यादा नहीं, हृदय के सहज स्रोत हैं। फिर भी वे श्रेष्ठ कवयित्री हैं।

प्रेम क्षेत्र में मीरां अतुलनीय हैं। जायसी भी उनके समान प्रेम की गहरी व्यंजना न कर सके। क्योंकि जायसी ने सूफ़ीमत के प्रभाव से विश्व-व्यापक सत्ता को प्रियतमा के रूप में अपनाया और मीरां ने प्रियतम के रूप में। प्रेमानुभूति की क्षमता नारी में अधिक होती है। कबीर मीरां से रस, भाव, माधुर्य सबही में पिछड़े हैं। यद्यपि एक दो पद उनके भी अनुपम हैं, जैसे—

बाल्हा आव हमारे गेह रे ।
तुम बिन दुखिया देह रे ॥

गोसाईं जी की साधना प्रेम की साधना नहीं वरन् आत्म-निवेदन की साधना थी। जिससे उनके गीतों में हृदय-पक्ष के समतुल्य ही मस्तिष्क-पक्ष भी रहा।

मीरां के गीतों का वहिरंग बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण है। भाषा भी खिचड़ी-

सी है। जिससे प्रवाह और माधुर्य में ठेस पहुँचती है। मेवाड़, चित्तौड़, ब्रज और द्वारिका जी में जीवनयापन होने के कारण उनकी भाषा पर मारवाड़ी, राजस्थानी, ब्रज-भाषा और गुजराती का प्रभाव काफ़ी पड़ा है। साधारणतया राजस्थानी से प्रभावित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। शुद्ध ब्रज भाषा के पदों में विशेष माधुर्य है। और शब्दों में 'ण' का प्रयोग होने से भावना में कुछ लोच आ गया है। भाषा सरल और प्रसाद गुण युक्त है। ग्रन्थों में 'पदावली' का ही सर्वत्र प्रचार है।

मीरां बाई हिन्दी साहित्य की क्या भारतीय साहित्य की भी सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं। संसार का कोई भी साहित्य उनपर गर्व कर सकता है। भक्ति-क्षेत्र में तो संसार की कोई भी स्त्री उनकी समता नहीं कर सकती। वास्तव में वे संसार की नारी-रत्न हैं, जिनमें सत्य और सौन्दर्य से युक्त प्रेम की साधना है। उन्हें पाकर हमारा साहित्य धन्य है।

रघुनन्दन आगे नाचूँगी।
नाच-नाच रघुनाथ रिझाऊँ, प्रेमी जन को जाचूँगी।
प्रेम-प्रीत की बाँध घूँघरा, सुरत की कछनी काछूँगी।
लोक लाज कुल की मरजादा, या में एक न राखूँगी।
पिया के पलँगा जा पौढ़ूँगी, मीरा हरि रँग नाचूँगी।

* * *

हेरी मैं तो दरद दिवाणी,
मोरा दरद न जाणै कोइ।
घाइल की गति घाइल जाणै, की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होइ।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवण किस बिध होइ।
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलणा होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होइ।

* * *

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
छाँड़ि दई कुल की कानि काहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई।
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई आनँद फल होई॥
भगति देख राजी हुई, जगत देख रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर, तारो अब मोही॥

* * *

आली रे मेरे नैणां बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण-पिया बिन राखूँ, जीवन मूरि जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं, बिगड़ी॥

* * *

किण संग खेलूँ होली।
किण संग खेलूँ होली, पिया तज गए अकेली॥
माणिक मोती सब हम छोड़े, गल में पहनी सेली।
भोजन भवन भलो नहिं लागै, पिया कारण भई गैली।
मुझे दूरी क्यों म्हेली॥ किण०
अब तुम प्रीत और सो जोड़ी, हम से करी क्यूँ पहिली।
बहु दिन बीते अजहूँ नहिं आये, लग रही ताला बेली।
किण बिलमाये हेली॥ किण०
श्याम बिना जिवड़ो मुरझावे, जैसे जल बिन बेली।
मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, जनम जनम की चेली।
दरसण बिन खड़ी दुहेली॥ किण०

* * *

दरस बिनु दूखन लागे नैन ।
जब तें तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन ।
सब्द सुनत मोरी छतिया काँपै, मीठे लागै बैन ।
एक टक-टकी पंथ निहारूँ, भई छमासी रैन ।
विरह विथा कांसूँ कहूँ सजनी, बह गई करवत ऐन ।
मीरा के प्रभु कब र मिलोगे, दुख मेटण सुख देन ॥

---

[२]

महात्मा सूरदास—गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने पुष्टिमार्ग के सर्वोत्तम आठ भक्त-कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। उनमें गीतिकाव्य के धनी भक्तवर महात्मा सूरदास जी का स्थान सर्वोपरि है। कृष्णकाव्य में 'अष्टछाप' के कवियों का प्रमुख स्थान है, क्योंकि उन्होंने कृष्णकाव्य की परम्परा को जन्म देकर हमारे साहित्य में प्रेम-भक्ति का नूतन स्रोत बहाया। सूरदास जी उच्च कोटि के सत्शील, सहृदय गायक थे। भक्ति की अनुभूति में प्रेम-विह्वल होकर छोटे छोटे पदों में उन्होंने अपने भावों के मनोहर चित्र खींचे हैं। सूरदास जी श्रीनाथ और नवनीत प्रिया जी के सामने कीर्त्तन किया करते थे, अतएव उनके काव्य में संगीत का अपरिमित निर्वाह हुआ है।

श्रीवल्लभाचार्य जी से दीक्षित होकर उनकी ही आज्ञा से सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया। इन्हीं पदों का संग्रह 'सूरसागर' कहलाता है। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के अनुसार ही बारह स्कन्ध हैं, किन्तु उन्होंने दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार कर दिया है। श्रीमद्भागवत से कृष्ण-लीला की घटनाओं को लेकर सूरदास जी ने सूरसागर में जो काव्य-सौन्दर्य, माधुर्य और अध्यात्म की सरल अभिव्यक्ति की है उससे कृष्ण-चरित्र दिव्य होकर आज भी दिग्दिगन्त में स्पन्दित हो रहा है।

साहित्य क्षेत्र में गोस्वामी जी सर्वोपरि हैं क्योंकि भक्ति की उच्च भावना, धार्मिक सजगता और आत्म-निवेदन के साथ-साथ उन्होंने मानव जीवन की अनेक रूपता और लोकादर्श की भी पूर्ण अभिव्यकि की है। उनके

काव्य का उद्देश्य आत्म-परितोष के साथ लोकहित भी था। किन्तु सूरदास जी ने श्रीकृष्ण की सौन्दर्य-मूर्ति को शृंगार और वात्सल्य के प्रेम-रस में रंगकर आत्म-तृप्ति के लिए ही अपने काव्य का आलम्बन बनाया। शील और शक्ति से युक्त कृष्ण के लोकोपकारी चरित्र पर उनका क्वचित भी ध्यान न गया। किन्तु उन्होंने जो क्षेत्र अपनाया उसे पूर्णरूप से अभिव्यक्त किया। बाल्य-जीवन के स्वाभाविक विकास और बालोचित लीलाओं के वर्णन करने में वे अद्वितीय हैं। यौवन, प्रेम और विरह के व्यापक और हृदय-ग्राही चित्रण में वे असीम हैं। उनके पद मानव-उद्गार के अनन्त सागर हैं, विश्व भर के हृदय की प्रकम्पन हैं। एक एक पद अन्तःकरण की पुकार और भाव का पूर्ण चित्र है।

सूरदास जी के पदों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं,—श्रीकृष्ण की बाल लीला सम्बन्धी पद, विरह सम्बन्धी पद तथा भ्रमरगीत, और कवि के आत्म-निवेदन सम्बन्धी पद। श्रीकृष्ण की बाल-लीला के पदों में बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं का स्वाभाविक चित्रण है। माँ की ममता और प्यार में सार्वलौकिक आत्मीयता के दर्शन होते हैं। बालरूप वर्णन में सूरदास जी की कोई समता नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण माखन-मिश्री में लथपथ होकर फिर रहे हैं। कितना मनोमुग्धकारी और सूक्ष्म रूप-वर्णन किया है,—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मण्डित मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल-लोचन-छवि रोचन तिलक दिए॥

वात्सल्य में सूरदास जी ने माता के हृदय का जो सजीव चित्रण किया है वह कितना आत्मीय है, सरल है और व्यापक है। यशोदा किस प्रकार अपने मोहन को मना रही हैं,—

कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आंगन में लोटी।
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ौ हाथ लकुट लिए छोटी॥

कृष्ण में कितनी बाल-सुलभ हठ है। वे चन्द्रमा के लिए कितनी चाव भरी बात पर अड़े हैं,—

लै हौंरी माँ चंद लहोंगौ।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ बाहर ब्यौंकि गहौंगौ॥
यह तो झलमलात झकझोरत कैसैं कै जु चहौंगौ।
तुम्हारौ प्रेम प्रकट मैं जानत बरौए न बहौंगौ॥

खेल में कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। कृष्ण को नंद जी के गोधन पर कुछ गर्व है तो हो। इस पर गोप एक सुन्दर ताना देते हैं,—

खेलत में को काको गोसैयाँ?
जाति पांति हम तें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

गोप और बलराम कृष्ण को चिढ़ाते हैं कि कृष्ण तुम काले हो, गोरे यशोदा और नंद तुम्हारे माता-पिता नहीं हो सकते। इस ताने की फ़रियाद सुन कर माता कितना प्यार का उत्तर दे कर सन्तुष्ट करती है,—

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमहिं ही को धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

इसी प्रकार शृंगार रस में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का जितना मार्मिक और सूक्ष्म वर्णन सूर ने किया है, अन्य कोई भी कवि न कर सका। संयोग शृंगार में चीर-हरण लीला, रासलीला एवं राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन में उन्होंने सीमा निर्धारित कर दी है। राधाकृष्ण की प्रेम माधुरी मुरली की मधुर तान से प्रकृति के सम्पूर्ण अंगों में समाकर मुखरित हो उठी है। उसका कोई अन्त नहीं। यहीं पर गोपियों के रूप में विरह-व्यथित आत्माओं को चिरन्तन ब्रह्म कृष्ण में समा जाने का दिव्य सन्देश मिलता है। वियोग शृंगार का पक्ष बहुत व्यापक है। श्री कृष्ण के मथुरा चले जाने पर सम्पूर्ण ब्रज में विरह-वियोग का सागर उमड़ पड़ता है। उनकी याद रहरह कर सब को सन्तप्त कर रही है। यशोदा श्री कृष्ण की दिन-चर्या का ध्यान आते ही व्याकुल होकर देवकी के पास कितना विनम्र सन्देश भेजती हैं,—

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहिं माखन-रोटी भावै॥

मधुवन की मनोहर हरियाली उनको और भी विकल कर देती है। वियोगाग्नि की भीषण ज्वाला उठने पर भी न जाने वह क्यों हरा-भरा खड़ा है,—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

संगीत-माधुर्य और भावना की तीव्रता में यह पद अद्वितीय है, अनमोल है। और नीचे वाले पद में वियोग-दशा का कितना मधुर चित्रण है। स्याम जिस दिन से गए हैं, नैनों के बरसने से गोपियों के ऊपर सदा वर्षा की झड़ी लगी रहती है। आँखों का अंजन बह रहा है जिससे कपोल और हाथ काले हो गए हैं। कँचुकि का पल्ला कभी भी सूखने नहीं पाता क्योंकि हृदय से आँसूओं के पतनारे बह रहे हैं। कितना तीव्र वियोग है, और उसकी व्यंजना कितनी चित्रोपम। विरह-सन्तप्त भावना लेकर तनिक पढ़िये ,—

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस-रितु हम पैं जब तैं स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर कपोल भए कारे।
कँचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ उर बिच बहत पनारे।

'भ्रमरगीत' में इस विरह-सागर का कोई वार-पारही न रहा। उसके क्षितिज की धुँधली रेखा भी सहसा तीव्र होकर गोपियों के चिरन्तन विरह में विलीन हो गई। उद्धव के प्रति गोपियों के उपालम्भ बड़े मार्मिक हैं। वे निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुन कर उद्धव को खूब फटकारती हैं,—

मधुकर तुम रस लंपट लोग।
कमल कोष नित रहत निरंतर हमहिं सिखावत योग॥
तुम चंचल अरु चोर सकल अँग बातन को पतिआत।
सूर बिधाता धन्य रचे एइ मधुप साँवरे गात॥

तथा,—

निरगुन कौन देस को वासी ।

मधुकर कहि समुझाई, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ।

को है जनक जननि को कहियत कौन नारि को दासी ।

कैसो बरन भेस है कैसौ केहि रस मैं अभिलाषी ।

पावैगौ पुनि कियौ आपनौ जो रे कहैगौ गाँसी ।

सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठगौ सौ सूर सबै मति नासी ॥

साथ ही 'भ्रमरगीत' में सगुणोंपासना के सिद्धान्त का सतर्क निरूपण भी है। किन्तु सूर का तर्क गोपियों के हृदय से उठता है, नन्ददास की भाँति शुष्क मस्तिष्क से नहीं। ऊधो निर्गुण की उपासना का उपदेश देते हैं किन्तु गोपियाँ किस मन से उपासना करें। एक मन था सो कृष्ण के साथ चला गया। अब,—

ऊधो ! मन न भये दस बीस ।

एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधे ईस ॥

मधुबन में कोयल की कूक से मधुरस का अनुपम संचार हो रहा है। वे उस आनन्द में विभोर हो उठती हैं। किन्तु ऊद्धव उन्हें तिस पर भी भस्म रमा कर विरक्त हो जाने का उपदेश देते हैं। वे इस आनन्द को ठुकरा कर कैसे भस्म-वेश धारण कर लें,—

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन ।

तुम हमको उपदेस करत हो, भस्म लगावन आनन ॥

नारी हृदय को लेकर वे ऊद्धव से बार बार यही विनती करती हैं,—

ऊधो ! हमहिं न जोग सिखैयै ।

जेहि उपदेस मिलैं हरि हमको सो ब्रत नेम बतैये ॥

कभी वे कृष्ण की याद करती हैं और रोती हैं, कभी प्रेम की पीड़ा से बेचैन होती हैं। इस वियोग-उन्माद में कभी प्रियतम के प्रति श्रद्धा दिखलाती हैं, कभी उसकी रूप-रस-माधुरी में आनन्दातिरेक से अचेत हो जाती हैं, और कभी पीड़ा का ध्यान आते ही उसकी कठोरता को कोसने लगती हैं,

उपालम्भों से उसे फटकारती हैं। वियोगावस्था की इन क्षणिक अनुभूतियों का सूरदास जी ने मार्मिक वर्णन किया है। निम्न पद में कितना मधुर पर मार्मिक उपालम्भ है,—

श्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहि चाहत नव यौवनियाँ॥
दिना चार तें पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ॥

सूरदास जी की गोपियों में मीरां से व्यापकता तो अधिक है किन्तु वह तीव्र वेदना नहीं, वह आत्मोत्सर्ग नहीं, उनमें रूपासक्ति की भावना ही प्रधान है।

आत्म-निवेदन के पदों से सूरदास जी तुलसीदास जी की भाँति ही करुणा-शील हैं। उन्हें सदैव अपने ऊपर क्षोभ है और पश्चाताप है। किन्तु उनकी भाँति सूरदास दार्शनिक नहीं हैं। वे भक्त हैं और भक्ति ही उनके पदों का ध्येय है। सूरदास जी के पतित-हृदय से कैसी आर्त प्रार्थना निकलती है;—

अब हौं नाच्यौं बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करहु नन्दलाल॥

अतएव गीति-काव्य की कौन सी विशेषता है जिसका उनके काव्य में चरम विकास न हुआ हो। गीति-काव्य के वे धनी हैं, अनन्त सागर हैं। भावाभिव्यक्ति की उनमें अलौकिक क्षमता है।

साहित्यिक आदर्श उनमें महान था। ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देकर उसे माधुर्यमयी सार्वदेशिक भाषा बनाने का श्रेय सूर के काव्य को ही है। यद्यपि तुलसीदास जी ने भी अवधी को समुन्नत किया किन्तु उसका साहित्यिक जीवन 'मानस' में ही सीमित रह गया। सूरदास जी काव्य-गुणों के मर्मज्ञ थे। अतएव इस दृष्टि से भी उनका काव्य उच्च है। शब्द-

चमत्कार में सूर तुलसी से कहीं आगे हैं। उनकी सुकुमार शब्दावली में स्वर की साधना है, तन्मयता का लयकारी संगीत है। वे एक ही भाव को बार बार व्यक्त करते हैं किन्तु वैचित्र्य और मौलिकता के साथ, जिससे मन कभी भी नहीं अलसाता। उनकी मौलिकता भावावेश में है; अन्तराल के प्रस्फुटन में है।

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलोहि नीर भरो।
जब दोनों मिल एक बरन भये सुरसरि नाम परो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो॥

* * *

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचैं धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हें कर अपनैं मैं कैसैं करि पायौ॥
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्हीं दौना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायौ॥

* * *

छबीले मुरली नेकु बजाउ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधारस प्याऊ॥
दुर्लभ जन्म दुर्लभ बृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है स्याम तुम्हारो संग॥
बिनती करहिं सुबल, श्रीदामा सुनहु स्याम दै कान।
जा रस को सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान॥

❀ ❀ ❀

मधुबन तुम कत रहत हरे।
बिरह-बियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यौं न जरे॥
मोहन बेनु बजावत द्रुम-तर साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि गन ध्यान टरे॥
वह चितवनि तू मन न धरत है फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह-दवानल नख-सिख लौं पसरे॥

❀ * *

निसि-दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस-रितु हमपैं जबतैं स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ उर बिच बहत पनारे॥
ऐसैं सिथिल सबै भइ काया पल न जात रिस टारे।
सूरदास प्रभु यही परेखौ गोकुल काहैं बिसारे॥

* * *

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहीं झूखी।
अब इन जोग-सँदेसनि ऊधौ अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहिपथ पिवत पतूखी।
सूर जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता हैं सूखी॥

* * ❀

मधुकर श्याम हमारे चोर।
मन हरि लियौ तनक चितवनि मैं चपल नयन की कोर॥
पकरे हुते आनि उर अंतर प्रेम प्रीति कैं जोर।
गए छुड़ाए तोरि सब बंधन दै गए हंसनि अकोर॥

चौंकि परी जागन निसि बीती तारनि गिनतै भोर।
सूरदास-प्रभु सरबस लूट्यौ नागर नवल किसोर॥

*   *   *

ऊधो! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावन आनन॥
औरों सब तजि सिंगी लै लै टेरन चढ़न पखानन।
पैनित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन॥
हम तौ निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥
सुन्दर श्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति है वा मुरली की तानन॥

---

[६]

गोस्वामी तुलसीदास—गोस्वामी जी हिन्दू-संस्कृति के लिए और विशेषकर हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए दिव्य वरदान होकर आये। उन्होंने हमारे साहित्य में रामकाव्य की प्रतिष्ठा की। 'रामचरित-मानस' में राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य के उत्कृष्ट सामंजस्य से भक्ति की जो परम-पावन धारा प्रवाहित की उसमें देश का, जाति का और सबसे अधिक मानव का महाकल्याण छिपा है। "गोस्वामी जी की राम-भक्ति वह दिव्य-वृत्ति है जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकती है।"[1] उनका काव्य केवल भक्त की भावुकता और आत्म-निवेदन तक ही सीमित नहीं वरन् उसमें लोक-हित का सर्वोपरि आदर्श निहित है। 'राम चरित मानस' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है और मानव-व्यापारों का अनन्त सागर।

---

[1]पं० रामचन्द्र शुक्ल

गोस्वामी जी अपने समय के महापुरुष और भक्त-शिरोमणि थे। अपने जीवन-काल में ही सम्पूर्ण देश में ख्याति पा चुके थे। अतएव दूर दूर से श्रेष्ठ पुरुष इनके दर्शनों को आया करते थे। पत्नि की भर्त्सना मात्र से इनकी सुषुप्त भक्ति और ज्ञान जाग्रत हो गए। तब गोस्वामी जी ने सांसारिक बन्धनों को लातमार कर विरक्त-भाव से अनेक वर्षों तक सम्पूर्ण देश और पवित्र स्थानों की यात्रा की। शेष जीवन श्री राम की अनन्य-भक्ति और काव्य-साधना में व्यतीत किया। उनकी भक्ति दास्य-भाव की थी। इसीसे उनकी भावना नितान्त पवित्र है। 'सिय-राममय सब जग जानी' राधा-कृष्ण की विश्व-व्यापक सत्ता का ही रूप है, किन्तु गोस्वामी जी ने लोक-मर्यादा नहीं तोड़ी। उनका शृंगाररस-वर्णन भी परम पवित्र है। गोस्वामी जी ने श्रीराम के साथ श्रीकृष्ण को भी अपनाया। स्मार्त वैष्णव होने के कारण पँच देवों की भी स्तुति की। इसी कारण अन्य मतावलम्बियों ने भी उनको श्रद्धा से शीश नवाया। वे जितने वैष्णव के प्यारे हैं, उतने ही शैव के और शाक्त के भी। अतएव गोस्वामी जी ने मत-मतान्तरों में विभक्त हिन्दू-जाति को एकता के सूत्र में बाँधने का महान प्रयत्न किया।

उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। अपने समय की प्रायः सभी काव्य-शैलियों को समुन्नत किया। कवित्त-सवैया, दोहे-चौपाई, पद, नीति के दोहे और छप्पय आदि सबही को उत्कृष्ट काव्य में प्रयुक्त किया। अवधी के साथ ब्रजभाषा को भी अपनाया।

गोस्वामी जी के गीति-काव्य 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' हैं। जिनकी रचना राग-रागिनियों के आधार पर पद-शैली में हुई है। उनके पदों को हम चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—राम-कृष्ण के चरित्र सम्बन्धी पद, आत्म-निवेदन और विनय के पद, देवों की स्तुति के पद तथा दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी पद।

'रामगीतावली' गीति-काव्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें कवि का न तो आत्म-निवेदन ही है और न अन्तर्जगत की अभिव्यंजना ही। साथ ही उसमें 'मानस' के कथानक का भी पूर्ण निर्वाह नहीं है। किन्तु

गीति-काव्य के अनुकूल उसमें राम-कथा की घटनाओं का और राम के शील-सौन्दर्य का भावात्मक वर्णन है। कर्कश और ओजपूर्ण प्रसंगों को छोड़ दिया गया है क्योंकि गीति-काव्य में कोमल-कान्त-पदावली के साथ भावना भी सुकुमार और मौलिक होती है। अतएव मुक्तक पदों में राम की बाल्यावस्था, माता की ममता और रूप-लावण्य का सूक्ष्म एवं भावात्मक चित्रण हुआ है। पर सूर के बालकृष्ण की भाँति गीतावली में राम की बाल-सुलभ लीलाओं का विस्तृत वर्णन न हो सका। उसमें उनका रूप-वर्णन ही प्रधान रहा। भाषा में भी उतना स्वाभाविक प्रवाह नहीं है। राम की याद कर माता कितनी स्वाभाविक बात कह रही हैं,—

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग फुरि बाता॥

पुत्र के वियोग में माता राम की प्यारी वस्तुओं को देख देख कर कितनी विकल हो रही हैं। उनको ही हृदय से लगा लगा कर कुछ सन्तोष पा लेती हैं,—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लखति, प्रभु जू की ललित पहनियाँ॥

तापस-वेशी राम और लक्ष्मण के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो ग्राम वधुएँ कितनी मधुर व्यंजना करती हैं:—

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि! निरखु भरि नैन॥
बीच बधू विधुबदनि बिराजति, उपमा कहुँ कोऊ है न।
मानहुँ रति ऋतुनाथ सहित, मुनि वेष बनाए है मैन॥

'कृष्ण-गीतावली' में वृन्दावन बिहारी श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन का मनोवैज्ञानिक सरस चित्रण किया है। इसमें गीतावली से अधिक स्वाभाविकता है और वह सूर के बाल-कृष्ण की भाँति बहुत सरल एवं मधुर भी है। कृष्ण-गीतावली पर सूरसागर का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। कुछ पद तो थोड़े ही अन्तर से दोनों में मिलते हैं। सूरदास की भाँति गोस्वामी जी ने भी कृष्ण-

चरित्र में माखन-लीला, सौन्दर्य-वर्णन, भ्रमर-गीत और रासलीला आदि का सुन्दर वर्णन किया है। माखन चुराने पर कृष्ण के घर का जो बेहाल किया है, उसका कितना सुन्दर उपालम्भ गोस्वामी जी ने एक गोपी के मुख से दिलवाया है,—

तोहिं स्याम की सपथ जसोदा आइ देखु गृह मेरे।
जैसो हाल करी यहि ढोटा छोटे निपट अनेरे॥

और कृष्ण चतुर बालक की भाँति रोब जमा कर कहते हैं,—

अबहि उरहनो दे गई, बहुरि फिरि आई।
सुनु मैया ! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की, सकुच बेचि सो खाई॥

और यशोदा सुत की चातुरी सुनकर मुसका देती हैं। गोस्वामी जी की गोपियों का विरह सूर की गोपियों की भाँति न तो तीव्र ही है और न उतना व्यापक ही। वियोग-व्यथा से पीड़ित हो एक गोपी कहती है,—

जब तें ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब तें बिरह-रवि उदित एक रस सखि बिछुरनि-वृष पाई॥

भ्रमरगीत के पदों में उद्धव को कितना कटु उत्तर देती है,—

सुनत कुलिस सम बचन तिहारे।
चित दै मधुप सुनहु सोउ कारन जाने जात न प्रान हमारे॥
ज्ञान कृपान समान जगत उर, बिहरत छिन छिन होत निनारे।
अवधि-जरा जोहति हठि पुनि पुनि, याते तनु रहत सहत दुख भारे॥

'विनय-पत्रिका' एक अद्भुत ग्रन्थ है। उसमें तुलसीदास जी के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हुआ है। आत्म-निवेदन और आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से यह काव्य सर्वोपरि है। उसमें तनमयता है और आत्म-विस्मृति भी। गोस्वामी जी की अलौकिक काव्य-शक्ति और भक्ति-रस के अनन्त सागर का पूर्ण परिचय इसी में मिलता है। उसमें हृदय-तत्त्व और आध्यात्मिक निर्देश का अपूर्व सामंजस्य हुआ है। यह कवि के जीवन, हृदय और मस्तिष्क का अनुपम चित्र है। आदि के कुछ पद संस्कृत प्रधान होने से बहुत क्लिष्ट हो गए हैं, जिससे प्रवाह रुक जाता है। साथ ही वर्णन की प्रधानता भी है।

काव्य-कला का उनमें पाण्डित्य भरा है। अलंकारों के तो वे निधि हैं। मगर आत्म-निवेदन और दार्शनिक विचारों के पद संक्षिप्त, सरल और मधुर हैं। पर उनमें भी सूर की सी भावुकता न आ पाई। वे संसार के माया-जाल से ऊब कर कहते हैं,—

केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहिं मन रहिये ॥

किन्तु सूरदास जी,—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतर गत हीं भावै ॥
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौं अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥

गोस्वामी जी के गीतों में भावुकता और ऊहा का समतुल्य निर्वाह हुआ है। अतएव वे उत्तम-गीति-कवि हैं। किन्तु उनकी ख्याति विशेष कर 'मानस' के कारण ही है। यद्यपि उनके पद राग-रागिनियों पर ही रचे गए हैं, तिस पर भी वे न अधिक गाये ही जाते हैं और न प्रचलित ही हैं। यद्यपि उन्होंने पदों में ब्रज-भाषा का ही प्रयोग किया है जो स्वभाव से ही मधुर और कोमल होती है, तिसपर भी वे सूरदास जी की भाँति लोक-प्रिय न हो सके। क्योंकि गोस्वामीजी की भाषा संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक भाषा है, जिससे वह जनता के लिए कठिन हो गई है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक भावनाओं से भाव भी दुर्गम हो गए हैं। किन्तु सूर की भाषा जहाँ अत्यन्त सरल है वहाँ भाव भी नितान्त घरेलू और सरल हैं। विनय-पत्रिका में ही गोस्वामी जी को आत्म-परितोष मिल सका। और उनके काव्य का "स्वान्तः सुखाय" उद्देश्य इसी में पूर्ण हुआ। यह काव्य भी सम्पूर्ण मानव की भव-बाधा हरनेवाला और राम-भक्ति के सहारे परम-शान्ति दायक है।

पुनि न फिरे दोउ बीर बटाऊ।
स्यामल गौर सहज सुन्दर, सखि ! बारक बहुरि बिलोकिबे काऊ ॥

कर-कमलनि सर सुभग सरासन, कटि मुनि बसन निषंग सोहाए।
भुज प्रलंब, सब अंग मनोहर, धन्य सो जनक जननि जेहि जाए ॥
सरद-विमल-बिधु-बदन, जटा सिर, मंजुल अरुन-सरोरुह-लोचन।
तुलसिदास मनमथ मारग में राजत कोटि-मदन-मदमोचन ॥

* * *

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग फुरि बाता।
दूध-भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय-सहित बिलोकि नयन भरि राम-लषन उर लैहौं।
अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी।
गनक बोलाइ पाँय परि पूछति प्रेम-मगन मृदुबानी।
तेहि अवसर कोउ भरत निकट तें समाचार लै आयो।
प्रभु-आगमन सुनत तुलसी मनो मीन मरत जल पायो ॥

* * *

जब तें ब्रज तजि गए कन्हाई।
तबतें बिरह-रबि उदित एक रस सखि बिछुरनि-वृष पाई ॥
घटत न तेज, चलत नाहिंन रथ, रह्यो उर नभ पर छाई।
इंद्रिय रूप रासि सोचहि सुठि, सुध सबकी बिसराई ॥
भयो सोक-भय-कोक-कोकनद भ्रम-भ्रमरीन सुखदाई।
चित-चकोर, मन-मोर, कुमुद-मुद सकल बिकल अधिकाई ॥
तनु-तड़ाग बल-बारि सूखन लाग्यो परी कुरूपता-काई।
प्रान मीन दिन दीन दूबरे, दसा दुसह अब आई ॥
'तुलसीदास' मनोरथ-मन मृग मरत जहाँ तहँ धाई।
राम स्याम सावन भादों बिनु जिय की जरनि न जाई ॥

* * *

जानकि जीवन की बलि जैहौं।
चितु कहै राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥

उपजी उर प्रतीति, सपनेहुँ सुख प्रभु पद विमुख न पैहौं ।
मन समेत यातन के बासिन्ह इहै सिखावनु देहौं ॥
स्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना औरु न गैहौं ।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीसु ईस ही नैहौं ॥
ना तो नेह नाथ सौं करि सब नाते नेह निबहैहौं ।
है छरुभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥

* * *

ऐसो को उदार जग माहीं ?
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी ।
सो गति दई गीध सबरी कहँ प्रभु न अधिक करि जानी ॥
जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं ।
सोइ संपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करहिं कृपानिधि तेरो ॥

* * *

मन पछितैहैं अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम बचन अरु हीते ॥
सहस बाहु दस बदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सब ही तें ।
अतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अब ही तें ॥
अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जी तें ।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय भोग बहु घी तें ॥

---

[७]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—आधुनिक हिन्दी साहित्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी की परम उदार-वृत्ति और प्रतिभा की देन है। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से साहित्य में नूतन-प्रवृत्तियों को जन्म दिया। असंयत हिन्दी गद्य को खड़ीबोली का नियमित रूप देकर आधुनिक गद्य की परिष्कृत शैली उत्पन्न की। जिसकी परम्परा का दिनोंदिन विकास हो रहा है। हिन्दी-जनता को नाटक-रचना की ओर उन्होंने ही अभिमुख किया। आलोचनात्मक निबन्धों से समालोचना का क्षेत्र बनाया। "बड़ा भारी काम भारतेन्दु जी ने यह किया कि स्वदेशाभिमान, स्वजाति-प्रेम, समाज-सुधार आदि की आधुनिक भावनाओं के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुना तथा इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरावृत्ति इत्यादि अनेक समयानुकूल विषयों की ओर हिन्दी को दौड़ा दिया।"[1] जिससे हिन्दी का क्षेत्र सर्वांगीण होकर परम हितकारी हो गया। उनकी अनन्य साहित्य-सेवा और लोक-हित को देखकर जनता ने उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया।

भारतेन्दु जी शृंगार-रसिक और प्रेमी जीव थे। धन-धान्य की कमी न थी। अतएव जीवन को आनन्द-विलास में व्यतीत करते थे किन्तु उनके विलासी जीवन में आत्मा का पतन न था। उनके काव्य में सर्वत्र ही आत्मा को, मानव को, समाज को परम पवित्र जागृति मिलती है। जिसमें भक्ति की उच्च भावना है। इस भावना का चरम विकास उनके पदों में हुआ है। उनके यहाँ सदैव साहित्य-प्रेमियों और रसिकों का जमघट लगा रहता था। उन्होंने अनेक नवोदित कवियों को प्रोत्साहन दिया, लेखकों को पथ दर्शाया और अपने धन से समाज का महान उपकार किया। जिससे हिन्दी में अनेक प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न हो गए। देश में एक जागृति फैल गई। भारतेन्दु जी का साहित्यिक मण्डल डा० जौन्सन के 'लिट्रेरी सर्किल' से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। लोक-हित के लिए उन्होंने अनेक संस्थाओं को स्थापित

---

[1] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल।

किया। भाषा-साहित्य के प्रचार के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाओं को चलाया। भारतेन्दु जी ने अल्पायु में ही १७५ ग्रन्थों की रचना की, जिससे ज्ञात होता है कि उनमें लिखने की कितनी शक्ति थी। उनके पद प्राय: नाटकों में ही हैं। जिनका संग्रह 'भारतेन्दु काव्यामृत प्रवाह' नामक ग्रंथ में है।

भारतेन्दु जी वल्लभकुल के परम-वैष्णव भक्त थे। उनके पद भक्त के हृदय की सरस अभिव्यक्ति हैं। भारतेन्दु जी के राधा-कृष्ण सूर-मीरा की भाँति ही विशुद्ध आराध्य हैं। उनका प्रेम और सौन्दर्य-साधना परम कल्याणकारी है रीतिकाल में राधा-कृष्ण को शृंगार के वासनामय नायक-नायिका बनाकर जो दूषित वातावरण उत्पन्न किया गया, उसे भारतेन्दु जी के पवित्र हृदय में स्थान न था। उन्होंने उस परम्परा की उपेक्षा करके राधा-कृष्ण के दिव्य स्वरूप को अपनाकर काव्य में फिर से पवित्रता का संचार किया। जिससे रीतिकाल के नग्न-शृंगार का अश्लील द्वार सदैव के लिए बन्द हो गया। यही उनकी बड़ी विशेषता थी।

उनके पदों में विशेष मौलिकता नहीं है। कृष्ण-काव्य के कवियों की भाँति उनमें भी 'अष्टछाप' की प्रवृत्तियाँ सर्वत्र वर्तमान हैं फिर भी उनमें भक्ति की विह्वलता है और भारतेन्दु जी की अपनी शैली ने उन्हें मनोहर एवं सरस बना दिया है। उनका विनम्र आत्म-समर्पण मार्मिक है। वे कहते हैं, 'हम चाकर राधारानी के।' राधा-कृष्ण की प्रेमानुभूति में वे विभोर होकर गा उठते हैं,—

मन मोहन चतुर सुजान, छबीले, हो प्यारे।

श्री राधा जी की आराधना और रूप-सौन्दर्य का कितना कल्याणकारी और चातुरीपूर्ण चित्र खींचा है—

यहै बात राधा मन भाई।
आपु बनी बृन्दाबन देबी, सखियन को तहँ दियो पठाई॥
मौन साधि दोउ नैनन थिर करि मूरति बनी महा छवि छाई।
'हरीचन्द' देखन को देबी आज परम परमा प्रगटाई॥

उनकी आत्माभिव्यंजना कितनी मधुर एवं सरल है—

मरम की पीर न जानै कोय ।
कासों कहौं, कौन पुनि मानै, बैठि रही घर रोय ।।
कोऊ जरनि न जाननिवारी, बेमरहम सब लोय ।
अपुनो कहत, सुनत नहिं मेरो केहिं समुझाऊँ सोय ॥
लोक-लाज कुलकी मरजादा, बैठि रही सब खोय ।
'हरीचन्द', ऐसेहिं निबहैगी, होनो होय सो होय ॥

उनकी भक्ति मीरां की भाँति परम-भाव की थी। प्रियतम के वियोग में उनकी विरह-व्यथित आत्मा मीरा की भाँति ही तलमलाती रहती है। उनकी वेदना तीव्र है। नटवर नागर की मनोहरता पर वे मुग्ध हैं। उसकी कितनी स्वाभाविक पर अत्यन्त मधुर, संगीतमय अभिव्यक्ति की है—

वह नटनागर घन साँवरो मेरो मन लै गयोरी ।
घर अँगना मोहिं नाहिं सुहावै, बैठत ही घुमरी सी आवै ।
लोग कहैं मोहिं देखि-देखि, याकौ कहा ह्वै गयोरी ॥

नैनों में छिपी, मानस में बसी माधव की मूरति में ही उन्हें परम सन्तोष मिला।

भारतेन्दु जी ने वैसे तो सम्पूर्ण काव्य में ही पर विशेषकर गीति-काव्य में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। साहित्य के अन्य अंग—गद्य, नाटक आदि की दृष्टि से वे आधुनिक हैं किन्तु गीति-काव्य में वे पूर्णतया भक्ति-कालीन हैं। क्या भाव, क्या भाषा सबही के विचार से उनके पदों में भक्ति काल की प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं। अतएव इस दृष्टि से उन्हें भक्ति-काल में ही रखना उपयुक्त होगा।

धनि ये मुनि बृन्दाबन-बासी ।
दरसन-हेतु बिहङ्गम ह्वै रहे, मूरति मधुर-उपासी ॥
नव कोमल-दल पल्लव-द्रुम पै, मिलि बैठत हैं आई ।
नैननि मूंदि, त्यागि कोलाहल, सुनहिं बेनु-धुनि माई ॥
आननाथ के मुख की बानी, करहिं अमृत-रस-पान ।
हरीचंद, हमको सोउ दुरलभ, यह बिधि की गति आन ॥

× × ×

वह नटवर घन साँवरो मेरो मन लै गयौ री ।
जब सों देखि लियौ है वाकों, तब सों भोजन-पान न भावै,
बैरिन लाज ह्वै गई मेरी, बिरह दै गयौ री ।
घर अँगना मोहिं नाहिं सुहावै, बैठत हीं घुमरी सी आवै,
लोग कहैं मोहिं देखि-देखि याकों कहा ह्वै गयौरी ।
हरीचंद, ग्वालिन रस माती, सास ननँद की उर न डेराती,
लोकलाज तजि सँग में डोलै,
कहा जानै, का नंदलाल टोना-सो कै गयौरी ॥

× × ×

छिपायें छिपत न नैन लगे ।
उघरि परत सब जानि जात हैं, घूँघट में न खगे ॥
कितनौ करौ दुराव दुरत नहिं, जब ये प्रेम-पगे ।
निडर भये उघरे-से डोलत, मोहन-रंग-रंगे ॥

× × ×

सखि, ये नैना बहुत बुरे ।
तब सों भये पराये हरि सों जबसों जाइ जुरे ॥
मोहन के रसबस ह्वै डोलत, तलफत तनिक दुरे ।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी, ऐसे ये निगुरे ॥
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं, हठ सों तनिक मुरे ।
अमृत भरे देखत कमलन से, विष के बुते छुरे ॥

× × ×

यहै बात राधा मन भाई ।
आपु बनी वृन्दाबन देबी सखियन को तहं दियो पठाई ॥
बैठी आसन करि मंदिर में सखियन की द्वै भुजा बनाई ।
वेणु श्रृंग पुनि लकुट कमल लै चार भुजा तहँ प्रगट दिखाई ॥
माथें कीट मोर पखवा को सारी लाल लसी सुखदाई ।
रतनन के आभरन बने तन जिन पैं दृष्टि नांहिं ठहराई ॥

मौन साधि दोउ नैनन थिर करि मूरति बनी महा छबि छाई ।
हरीचंद देखिन को देबी आज परम परमा प्रगटाई ॥

---

[८]

पं० सत्यनारायण कविरत्न—ब्रजकोकिल पं० सत्यनारायण जी की जीवनी एक करुण कहानी है । करुणा में ही वे उत्पन्न हुए और अन्त में करुणा के अनन्त सागर में ही समा गए । इसी से उनका काव्य करुणापूर्ण और मधुर है । बचपन से ही उनमें काव्य-प्रतिभा का विकास होने लगा था । अवसर पाकर उनका जीवन दिनोंदिन काव्य-मय होता चला गया । उनके काव्य-गुणों पर कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे महापुरुष भी मुग्ध हुए थे । स्वामी राम-तीर्थ का सत्यनारायण जी को गहरा सत्संग प्राप्त हुआ था । वे सीधे-साधे, सरल गुणों से युक्त एक सुशिक्षित ग्रामीण थे । 'सादा जीवन उच्च विचार' उनके जीवन का महान उद्देश्य था । जिसकी उन्होंने कभी भी अवहेलना नहीं की । सत्यनारायण जी के जीवन में दाम्पत्य प्रेम का सर्वथा अभाव रहा क्योंकि पंडित जी साहित्य-प्रेमी, श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त, कट्टर सनातनी और सरल प्रकृतिके पुरुष थे, किन्तु श्रीमती जी शुष्क आर्य-समाजिनी । वे आजीवन "भयो अनचाहत को संग" कहकर ही कलपते रहे । हिन्दी-हिन्दू-हिन्द के प्रति उनमें अपार श्रद्धा थी और लगन थी ।

काव्य तो उनका सरस होता ही था । उससे अधिक प्रभावशाली थी उनकी कविता पाठ की शैली । इसी से वे 'ब्रजकोकिल' कहलाए । "वह स्वाभाविक सरलता, वह निःस्वार्थ साहित्य सेवा, वह मधुर हास्य और वह कोकिल स्वर हिन्दी जगत में कहीं एकत्र न मिले ।"[1] नम्रता, स्नेह और सज्जनता की वे मानों मूर्ति ही थे ।

सत्यनारायण जी ने मौलिक रचना के साथ 'उत्तर राम चरित', 'मालती माधव' और 'होरेशस' आदि नाटकों का हिन्दी में बहुत ही

---

[1] पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी

सुन्दर अनुवाद किया। उनकी फुटकर कविताओं का संग्रह 'हृदय तरंग' है! जिसमें अन्य कविताओं के साथ देश-प्रेम के मधुर गीत, कृष्ण-भक्ति के सरस पद और भ्रमरगीत संग्रहीत हैं। भ्रमरगीत नन्ददास जी के भ्रमरगीत की शैली पर ही लिखा गया है। किन्तु उसमें आधुनिक देश-प्रेम की भावनाओं का भी यथेष्ठ उल्लेख है।

पं० सत्यनारायण में महाकवि की प्रतिभा थी। प्रचलित ब्रजभाषा के वे धनी थे। हिन्दुत्त्व के उद्धार की उनमें एक लगन थी। किन्तु दैव ने उन्हें असमय में ही असहाय की भाँति हिन्दी संसार से उठा लिया। करुणा के अश्रुओं से और उनकी दुख भरी कहानी से आज भी ब्रजभूमि एवं हिन्दी-साहित्य संसिक्त है।

उनके पद अत्यन्त भावपूर्ण और मधुर हैं। सूरदास जी की भाँति उनके आत्म-निवेदन में तीव्र करुणा है, वेदना है। उनकी प्रार्थना में कितनी आकुलता है—

माधव अब न अधिक तरसैए।
जैसी करत सदा से आए, वुही दया दरसैए॥

वे अपने उद्धार के साथ दीन-दुखियों की भी विपदा निवारण की प्रार्थना करते हैं। उनकी भावनाएँ आत्मजगत की सीमा से बाहर निकल जनता के सुख-दुख में भी सहानुभूति रखती हैं। वे भक्त-कवियों की भाँति केवल आत्म-परितोषी ही नहीं थे। वे विश्व की व्यापक विपदा में एक स्वर हो गाते हैं,—

आरत तुमहि पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवन राई।
अँगुरी डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई॥
अजहूँ प्रार्थना यही आपसों, अपनो बिरुद सँवारो।
'सत्य' दीन दुखियन की विपदा, आतुर आई निवारो॥

भगवान ने दीनों की इस आर्त पुकार की अवहेलना की। इस पर कवि ने कैसा ताना कसा,—

मोहन कबलौं मौन रहौगे ?
निज आँखिन पै धरै ठीकरी, कितने और रहौगे ?

तुम देखत भारत-मानव-कुल, आकुल छिन-छिन छीजै ।
कहा भयौ पाषाण हृदय तुव, जो नहिं तनिक पसीजै ॥

वे घन श्याम के दर्शनों से तरस कर बेहाल हो गए हैं। कितना मार्मिक आत्म-निवेदन है। माधुर्य और संगीत का कितना संचार है,—

घनश्याम रस बरसाना ।
नूतन जलधर नयन सुखद तन रुचिर छटा दरसाना ॥
तरसा चुके इन्हें तुम इतना, अधिक न अब तरसाना ॥

निम्न पद में आत्माभिव्यक्ति की कितनी व्यंजना है—

बिरथा जन्म गमायो रे मन ।
रच्यो प्रपञ्च उदर-पोषण को राम कौ नाम न गायौ ॥
तरुणित तरङ्ग त्रबलि को लखि के हाय फिरयो भरमायौ ॥
रह्यो अचेत चेत नहीं कीन्हों सगरो समय बितायो ।
माया जाल फँस्यो हा अपुते उरझि भलो बौरायो ॥

भक्ति-परम्परा के पद होते हुए भी उनमें देश-प्रेम की झलक है, आत्म-शासन का उपदेश है और आत्म-जागृति का महान सन्देश है। श्रीकृष्ण को अपनाकर कृष्ण-काव्य की गीति-परम्परा को पण्डित जी ने आधुनिक युग में भी बनाए रक्खा। किन्तु गीतों में भक्ति के पीछे दीन-दुखियों के दुख के निवारण की परम भावना छिपी है। इनसे पहले के गीत केवल आत्म-परितोष तक ही सीमिति थे। मगर इनके बाद से गीतों की गति-विधि ही बदल गई। पं० सत्यनारायण के साथ गीति-काव्य की परम्परागत पद-शैली का अन्त हो गया और ब्रजभाषा का भी। आधुनिक युग में खड़ी बोली में रहस्यवादी गीतों की रचना आरम्भ हो गई। जिनका दृष्टिकोण ही बदल गया। वेश-भूषा ही बदल गई।

क्यों मन ऐसो होत अधीर ।
परम पिता जो जन प्रतिपालक उनको तेरी पीर ।
कर्म बीर बन अरे बावरे ! या जीवन रन माहिं—
अपने आप बंध्यो बन्धन में ज्यों पिञ्जर में कीर ।

जगत जगत, तेरे सोवन को अब यह अवसर नाहिं—
हंस बुद्धि सों बिलग करहु नितहित, अनहित पयनीर
है उद्देश्य आत्म-शासन तव देखि हृदय के बीच—
जग के जाने तू गरीब है वैसो सांचो मीर।
किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ चेत-हत फँस्यो मोह की कीच—
करि विश्वास सत्य करुणामय अवसि हरहिं तव भीर।

× × ×

माधव, अब न अधिक तरसैए।
जैसी करत सदा सों आये, वुही दया दरसैए॥
मानि लेउ, हम क्रूर, कुढंगी, कपटी, कुटिल गँवार।
कैसे असरन-सरन कहौ तुम जन के तारन हार॥
तुम्हरे अछत तीन-तेरह यह, देस-दसा दरसावै।
पै तुमकों यहि जनम धरेकी, तनकहुँ लाज न भावै॥
आरत तुमहिं पुकारत हम सब, सुनत न त्रिभुवन राई।
अंगुरि डारि कान में बैठे, धरि ऐसी निठुराई॥
अजहूँ, प्रार्थना यही आपसों, अपनो बिरद संवारौ।
'सत्य' दीन दुखियन की विपदा, आतुर आइ निवारौ॥

घन विनय

घन श्याम रस बरसाना॥
नूतन जलधर नयन सुखद तन रुचिर छटा दरसाना।
पुनि पुनि परम पुनीत प्राकृतिक प्रेम प्रभा परसाना॥
पुण्य पियासे कृषक हृदय में सुख तरंग सरसाना।
तरसा चुके इन्हें तुम इतना, अधिक न अब तरसाना॥

मेरी मातृ-भूमि

पावन परम जहाँ की, मंजुल महात्म्य-धारा ।
पहले ही पहल देखा, जिसने प्रभात प्यारा ॥
सुरलोक से भी अनुपम, ऋषियों ने जिसको गाया ।
देवेश को जहाँ पर, अवतार लेना भाया ॥
वह मातृ भूमि मेरी, वह पितृ भूमि मेरी ॥१॥

ऊंचा ललाट जिसका, हिम-गिरि चमक रहा है ।
सुबरन किरीट जिस पर, आदित्य रख रहा है ॥
साक्षात् शिव की मूरत, जो सब प्रकार उज्ज्वल ।
बहता है जिसके सिरसे, गंगा का नीर निरमल ॥
वह मातृ भूमि मेरी, वह पितृ भूमि मेरी ॥२॥
सर्वोपकार जिसके, जीवन का व्रत रहा ।
प्रकृति पुनीत जिसकी, निरभय मृदुल महा है ॥
जहाँ शान्ति अपना करतब करना न चूकती थी ।
कोमल-कलाप-कोकिल कमनीय कूकती थी ॥
वह मातृ भूमि मेरी, वह पितृ भूमि मेरी ॥३॥

वर वीरता का वैभव, छाया जहाँ घना था ।
छिटका हुआ जहाँ पर, विद्या का चांदना था ॥
पूरी हुई सदा से, जहँ धर्म की पिपासा ।
सत्संस्कृत प्यारी, जहँ की थी मातृभाषा ॥
वह मातृ भूमि मेरी, वह पितृ भूमि मेरी ॥४॥

---

[९]

पं० श्रीधर पाठक—पाठक जी प्रकृति के सच्चे कवि थे। प्राकृतिक सौन्दर्य का हूबहू वर्णन कर देने की उनमें अपार क्षमता थी, क्योंकि प्रकृति की सौन्दर्य-साधना में वे उसके अनन्य उपासक थे।

जब वे प्रकृति का रूप-चित्रण करते हैं तो उन्हें कोई भी बाहरी भावना प्रभावित नहीं करती। वे प्रकृति के वेश में पूर्णतया समा जाते हैं। यही कारण है कि उनके चित्रों में प्रकृति काव्यमय होकर जाग उठती है। साथ ही पाठक जी ने देश-प्रेम की भावना से प्रभावित होकर बड़े ही सुन्दर देश और जातीय गीतों की भी रचना की है। जिनमें अनुपम माधुर्य और भावों की प्रचुरता है। पाठक जी ने संस्कृत और अंग्रेज़ी साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। जिससे इनके भाव बहुत ही मौलिक हैं और भाषा बहुत ही परिष्कृत है। संगीत उनके गीतों का अनिवार्य अंग है।

पाठक जी ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही सरस कविता करते थे। अतएव खड़ीबोली पर कहीं कहीं ब्रजभाषा का प्रभाव मिलता है। उन्होंने 'गोल्डस्मिथ' के तीन ग्रन्थों का हिन्दी में बहुत ही उत्तम अनुवाद किया है। वे हैं—एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम और श्रान्त पथिक। उनके विचारों में और भावनाओं में पुरातन के प्रति लगाओ न था। उनकी शैली के विषय में स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, "शब्द शोधन में तो पाठक जी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली उनकी ब्रजभाषा होती थी वैसा ही कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी। ये वास्तव में बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचि सम्पन्न कवि थे। भद्दापन इनमें न था—न रूप रंग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में।"

पाठक जी के गीत प्रायः तीन प्रकार के हैं—देश-प्रेम के गीत, स्वतंत्र गीत और भ्रमरगीत। इन सब का संग्रह 'भारत-गीत' में हुआ है। देश-प्रेम के गीतों में देश के गौरव और वंदना के गीत हैं। उनमें से बहुत से गीत हर जगह राष्ट्रीय एवं स्कूलों के उत्सवों पर नित्य गाए जाते हैं। 'जय जय प्यारा भारत देश'—वाला गीत बहुत ही अधिक प्रचलित है। कुछ चर-गीत (Marching Song) भी उन्होंने लिखे हैं, जिनका बालचर मण्डलों (Scouting) में विशेष प्रचार है। नीचे के गीत में द्रुतगति और संगीत का कितना सुन्दर समावेश हुआ है। साथ ही सेवा की आदर्श भावना कितनी आत्मोत्सर्ग पूर्ण है और कठिनता में भी आगे बढ़ाने वाली है,—

जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
सब सेवक वर हैं, हम हम हम
सेवक चर हैं, सेवक-वर हैं। शुचिता शील दया के घर हैं
सेवा में रहते तत्पर हैं। करते हरदम श्रम श्रम श्रम।

इसी प्रकार 'प्रसाद' जी का यह चर-गीत भी कितना उत्साहवर्द्धक है।

हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।

पाठक जी के गीतों में भावना की सत्यता इतनी प्रबल है कि वह गाने वाले को अपने प्रभाव में तन्मय करदेती है। जिससे उनके गीतों का प्रभाव हृदय में सदा बना रहता है। अत्यन्त सरल होने के कारण वे और भी सुन्दर ज्ञात होते हैं। राष्ट्रीय कवियों में सच्चे गीति-कवि वे ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि अन्य कवियों में राष्ट्रोत्थान की प्रबल-भावनाएँ भी हैं और प्रभावशाली भावाभिव्यक्ति भी, पर उनमें गीति-काव्य के अनुकूल भावुकता और संगीत का यथेष्ट परिपालन न हो सका। 'भारत देश' पर इतने सुन्दर और इतने अधिक गीत अन्यत्र कम ही मिलते हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भी कुछ सुन्दर देश-गीत लिखे हैं। जो बड़े चाव से गाए जाते हैं जैसे,—'वह मातृ भूमि मेरी, वह पितृ भूमि मेरी'। स्वतंत्र गीत बहुत ही कम हैं। उनमें से एक 'सुसन्देश' गीत ही उन्हें उच्च कोटि के गीति-कवियों में उच्च स्थान देने की क्षमता रखता है। उसके विषय में शुक्ल जी लिखते हैं, "स्वर्गीय वीणा में उन्होंने परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्य पूर्ण संकेत किया। जिसके ताल-सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है।" इस गीत के सुनते ही हृदय में गुदगुदी सी उठने लगती है और स्वच्छन्द (Romantic) भावना जागृत हो जाती है। इसी से उन्हें स्वच्छन्दतावाद का सच्चा प्रवर्त्तक मानते हैं।

विश्व-भर का संगीत मानों इसी में आकर समा गया हो। बांसुरी पर वह और भी मधुर हो जाता है। यह उनका एक अनुपम गीत है। कितनी सुन्दर पंक्तिया हैं—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला
सुमन्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी
सुरीली गुञ्जार आ रही है॥

'भ्रमरगीत' के पद ब्रजभाषा में हैं। इन पदों में परम्परागत 'भ्रमर-गीत' की भावना यानि गोपी-उद्धव सम्वाद नहीं है। किन्तु प्रेम का सन्देश है और देश-भक्ति का आदेश है। सर्वत्र ही अन्योक्ति से उनमें शिक्षा की व्यंजना है। जैसे,—

रसीले भौंरां, कलियन कौं मति छेड़ि।
दै भजाई छेड़न हारेन कौं बन सौं बरुक खदेड़ि।

भारत को सचेत करने के लिए कितना वे कहते हैं—

भारत चेतहु नींद निवारौ।
बीती निशा उदित भए दिन-मनि, कब कौ भयौ सकारौ॥

भाषा-सौष्ठव और सुकुमार संगीत के लिए यह गीत कितना सुन्दर है—

भ्रमर कर, गुंज मधुर हरिनाम
शान्ति पुंज, भव-भ्रान्ति-भंजकर, मोहन, मंजु, सुदाम।

इस प्रकार पाठक जी का देश और जातीय गीतों में उच्च स्थान है। क्या भाव, क्या भाषा सभी में वे मनोहर हैं।

चर-गीत

जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
सब सेवक-वर हैं, हम हम हम
सेवक चर हैं, सेवक वर हैं। शुचिताशील दया के घर हैं
सेवा में रहते तत्पर हैं। करते हर दम श्रम श्रम श्रम

जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
सेवा के हित फिरैं विचरते। विपदा के मग में पग धरते
कठिनाई से कभी न डरते। कहीं न सकते थम थम थम
जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
कष्ट कहीं पर जो सुन पावें। सुनते ही एक दम वहाँ धावें
जो कुछ सकें मदद पहुँचावें। मुस्तैदी से जम जम जम
जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
चाहे पड़ रही धूप कड़ी हो। बरसा की लग रही झड़ी हो
कड़क के बिजली तड़प रही हो। चमक रही हो चम चम चम
जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
काम पै तब भी जाय डटें हम। विघ्न से डर कर नहीं हटें हम
विपत के सिर पर जाय जुटें हम। पहुँच के धड़ से धम धम धम
जग-सेवक, चर हैं, हम हम हम
सब सेवक-वर हैं, हम हम हम

सुसन्देश

कहीं पै कोई स्वर्गीय बाला
सुमञ्जु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी
सुरीली गुञ्जार आरही है॥
हरेक स्वर में नवीनता है,
हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है
अलाप अद्भुत मिला रही है॥
अलक्ष्य पर्दों से गत सुनाती,
तरल तरानों से मन लुभाती।

अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक
सुधा की धारा बहा रही है ॥
कोई पुरन्दर की किंकिरी है
कि या किसी सुर की सुन्दरी है ।
वियोग-तप्ता सी भोग-मुक्ता
हृदय के उद्‌गार गा रही है ॥
कभी नई तान प्रेममय है,
कभी प्रकोपन कभी विनय है ।
दया है दाक्षिण्य का उदय है
अनेकों बानक बना रही है ॥
भरे गगन में हैं जितने तारे
हुए हैं मदमस्त गत पै सारे ।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों
दो उंगलियों पर नचा रही है ॥
सुनो सुनने की शक्ति वालो
सको तो जाकर के कुछ पता लो ।
है कौन जोगन ये जो गगन में
कि इतनी चुलबुल मचा रही है ॥

सुन्दर भारत

भारत हमारा कैसा सुन्दर सुहा रहा है
शुचि भाल पै हिमाचल, चरणों पै सिन्धु-अंचल
उर पर विशाल सरिता सित-हीर-हार-चंचल
मणि-बद्ध नील नभ का विस्तीर्ण-पट अचंचल
सारा सुदृश्य-वैभव मन को लुभा रहा है ॥ भा० ॥

उपवन-सघन-बनाली, सुखमा-सदन, सुखाली
प्रावृट के सान्द्र घन की शोभा निपट निराली

कमनीय-दर्शनीया कृषि कर्म की प्रणाली
सुर-लोक की छटा को पृथ्वी पै ला रहा है ॥भा०॥

सुरलोक है यहीं पर, सुखग्रोक है यहीं पर
स्वाभाविकी सुजनता गत-शोक है यहीं पर
शुचिता, स्वधर्म-जीवन, बेरोक है यहीं पर
भव मोक्ष का यहीं पर अनुभव भी आ रहा है ॥भा०॥

हे वन्दनीय भारत, अभिनन्दनीय भारत
हे न्याय वन्धु निर्भय, निर्बंधनीय भारत
मम प्रेम-पाणि पल्लव-अवलंबनीय भारत
मेरा ममत्व सारा तुझमें समा रहा है ॥भा०॥

भ्रमर-गीत

भ्रमर कर, गुंज मधुर हरिनाम
शान्त-पुंज, भव भ्रान्ति भंगकर; मोहन, मंजु, सुदाम,
सुभग, सुबोल, सुगेय, सुगोचर, अमल, अमोल, ललाम
सुपद, सुबोध, सुबुद्धि-प्रमोदित, ऋद्धि-सिद्धि-ध्रुव-धाम
भ्रमर कर, गुंज मधुर हरिनाम
सजग-प्रेममय, त्रिजग-छेम-मय, अननुमेय-गुण-ग्राम
दुरित-दोष-दुर्वृत्त-द्विधा-द्वंद्व-विराम
भ्रमर कर, गुंज मधुर, हरिनाम ।

---

[१०]

श्री मैथिलीशरण गुप्त—गुप्त जी का काव्य हिन्दू संस्कृति, राष्ट्रोत्थान और समाज-सेवा का सजीव चित्र है। उसमें हिन्दुत्त्व का सार्वलौकिक स्पंदन है, धर्म का नवीन सन्देश है, मानव की उदार वृत्ति है। आदर्शवाद की छाया में कवि उपदेशक है, युग की रहस्यवादी भावना में दार्शनिक है

और काव्य की प्रगति में मौलिक कलाकार। उसकी काव्य-कला का नवीन सन्देश-प्रकृति और मानव के अन्तःकरण का सहज सामंजस्य उसके गीतों में प्रस्फुटित हुआ है। वे 'साकेत' के सौन्दर्य हैं, 'यशोधरा' के मानसिक चित्र हैं, एकाकी हृदय के करुण संगीत हैं और हार की भाँति प्रबन्ध-काव्य के कथानक में गुँथे हुए सुकोमल पुष्प हैं, जिनकी अपनी सत्ता है, अपना सौन्दर्य है। 'झंकार' में कवि की दार्शनिक अनुभूति से प्रगीतत्त्व प्रायः लुप्त हो गया है। अतएव गीतिकाव्य की दृष्टि से 'साकेत' और 'यशोधरा' ही सर्वोत्तम हैं।

उनके गीत दो प्रकार के हैं—आधुनिक शैली के और परम्परागत पद शैली के। नवीन विचारों का संचरण उनकी प्रतिभा की मौलिकता है, जिससे उनके पदों में भी नवीन आकर्षण और माधुर्य आ गया है। वियोगिनी की विरह-व्यथित वेदना का संचार, गहरी अनुभूति और भावावेश के कोमल व्यापारों की सूक्ष्म अभिव्यंजना उनके गीतों की विशेषता है। विरह के भाव-विभाव दोनों ही पक्षों में नवीनता है। सूरदास के पदों की भाँति उनकी भावना उत्तरोत्तर सान्द्र (intense) होकर अन्तिम पंक्ति में पूर्ण विकसित नहीं होती; वरन् उसका विकास समतुल्य होता है। उर्मिला और यशोधरा की मर्म-वेदना में सूरदास की गोपियाँ सामने आ जाती हैं, किन्तु वे न उतनी व्यापक ही हैं और न संवेदनशील ही। उनमें प्रिय-मिलन की पीड़ा है पर प्रिय का चिरन्तन स्वरूप नहीं। गोपियों का विरह ससीम कृष्ण को असीम बना देता है। उनके विरह-कम्पन से विश्व सन्तप्त हो उठता है। मीरा की भाँति उर्मिला और यशोधरा प्रियतम के अभाव में विकल हो उठती हैं पर उनमें मीरा के प्रेम की-सी लोकरंजन साधना नहीं। श्रीकृष्ण के रूप-लावण्य में जो कल्याणकारी चेतना मीरा को मिली, वह उर्मिला को अपने प्रियतम में न मिल सकी। क्योंकि उसका प्रियतम उसकी भाँति ही ईश्वर की विभूति था, स्वयं ईश्वर नहीं। मीरा की पीड़ा से निकलता है,—

दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होइ॥

किन्तु उर्मिला कहती है,—

स्वजनि, रोता है मेरा गान,
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।

उर्मिला विरह-व्यथित नायिका के रूप में स्वार्थ-पर होकर ही रह गई। फिर भी वह सहानुभूति की पात्र अवश्य है। क्योंकि अपने प्रियतम की वेदना में ही उसे अपार सुख मिलता है। वह कभी उससे वंचित नहीं होना चाहती। आत्मोत्सर्ग पर भी प्रिय-दर्शन के लिये लालायित है,—

अब जो प्रियतम को पाऊँ,
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।
उषा सी आई थी जग में, सन्ध्या सी क्या जाऊँ?
श्रान्त पवन से वे आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ!

विरहाग्नि से सन्तप्त उर्मिला पीली पड़ गई है। फिर शिशिर न जाने क्यों पतझड़ और पिलापी की खोज में बन-बन मारा फिर रहा है। प्रिय की स्मृति से उसके सुकुमार हृदय में प्यार की हूक रह रह कर उठती है, वह इस पीड़ा से विकल होकर मधुर प्रार्थना करती है,—

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।

फिर भी उर्मिला में निराश भावना नहीं। उसमें आत्म-सम्मान है, और वह है अपने रूप-लावण्य पर और पति की मर्यादा पर। उसका उपालम्भ कितना मार्मिक है,—

रूप-दर्प कन्दर्प तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण धूलि उस रति के सर पर वारो!

कवि ने प्रकृति के अन्तःकरण और उर्मिला की आकुल अनुभूति का कितना मधुर और सूक्ष्म चित्रण किया है,—

न जा अधीर धूल में,
दृगम्बु आ दुकूल में।

रहे एक ही पानी चाहे हम दोनों के मूल में,
मेरे भाव आँसुओं में हैं और लता के फूल में।

एक ओर वसन्त, कोकिल की सुधा-सिक्त कू-कू है, होली का उत्सव है, दूसरी ओर उर्मिला का एकाकी सन्तप्त हृदय। दोनों के सामंजस्य से कवि ने कितना सुन्दर प्रकृति-गीत रचा है। रसोल्लास का वारापार नहीं,—

काली काली कोइल बोली—
होली—होली—होली!
हँस कर लाल लाल होठों पर हरयाली हिल डोली,
फूटा यौवन फाड़ प्रकृति की पीली पीली चोली।
होली—होली—होली!
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोली,
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली।
होली—होली—होली!
रागी फूलों ने पराग से भरली अपनी झोली,
और ओस ने केसर उनके स्फुट-सम्पुट में घोली।
होली—होली—होली!
ऋतु ने रवि-शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली,
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन भावना भोली?
होली—होली—होली!
गूँज उठी खिलती कलियों पर उड़ अलियों की टोली,
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली।
होली—होली—होली!

संक्षेप में उर्मिला के गीतों में विरहिणी के क्षणिक उन्माद और शान्ति, विषाद और हर्ष का सुन्दर आरोह-अवरोह हुआ है। वे प्रगीत-परम्परा से लिखे गए सुन्दर गीत हैं।

सिद्धार्थ बिना कुछ कहे सुने ही सहसा विरक्त होकर चले गए। यशोधरा के पत्नि-हृदय को जो दुःख हुआ, उसमें उसका गान कितना करुण है,

कितना मार्मिक है,—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?

और फिर सतीत्व-रक्षा में पति के प्राणों पर बलिदान होने वाली भारतीय सहधर्मिणी के मुख से उपालम्भ तक नहीं निकलता,—

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?—
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

प्रियतम के अभाव में वह रोती है और खूब रोती है। तब भी उसकी अश्रु-वर्षा शान्ति-दायिनी नहीं,—

जल में शतदल तुल्य सरसते;
तुम घर रहते हम न तरसते,
देखो दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी!
आओ हो वनवासी!

इन विरह सम्बन्धी गीतों के अतिरिक्त गुप्त जी का निम्न गीत कितना क्रान्तिकारी है। जीर्ण-शीर्ण पुरातन के प्रति विद्रोह है। कवि विकल है, बेचैन है। वह अंग्रेज़ी के कवि शैली की भाँति एक प्रलयंकर 'जगत्प्राण' को आह्वान कर गा उठता है,—

आ, जगत्प्राण, उठ, जाग-जाग,
धँस भीतर धधका एक आग।
इस वेणु रन्ध्र से निकल पड़े
नवजीवन का प्रज्वलित राग।
....

तब करे किरण-माल विकीर्ण,
हो जाए दग्ध सब जीर्ण-शीर्ण,
उर्वर हों सारे क्षेत्र यहाँ,
बन जाए सार वह दलित-दीर्ण,
फिर नव कुसुमों का नव पराग।
आ, जगत्प्राण, उठ, जाग-जाग ॥[१]

उनके गीति-काव्य का अन्तरंग वास्तव में आदर्श है, किन्तु बहिरंग भाषा-सौष्ठव, पद लालित्य, संगीत—उतना सुन्दर न हो सका। साधारणतया भाषा भावों के अनुरूप है, प्रसाद गुण युक्त है और मधुर भी। पर कहीं कहीं पर गीत आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए हैं। जिससे भाव भाषा में सूत की पूनी की भाँति खिचकर असंयत हो जाता है। और यातो भाषा में या भाव में कृत्रिमता आ जाती है। वे केवल पद-पूर्ति के साधन-मात्र ही ज्ञात होते हैं। जैसे—

मींड़ मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक;
चातक की हुत-हृदय-हूति जो, सो कोइल की कूक।

गीतों में काव्य की अपेक्षा भाषा का स्वरूप और निखर कर आया है। अपरिचित संस्कृत शब्द भी उसमें घुल-मिल कर हिन्दी के ही हो गए हैं। कहीं कहीं प्रकृति-चित्रण में वर्णनात्मकता से रूप गौण हो गया है। फिर भी गुप्त जी के गीत कम होते हुए भी अपनी मौलिक विचार-धारा और विप्रलम्भ

१...............Be thou, Spirit fierce,
My Spirit ! be thou me, impetuous one !
Drive my dead thoughts over the universe,
Like wither'd leaves, to quicken a new birth ;
And, by the incantation of this verse,
Scatter, as from an unextinguish'd hearth,
Ashes and sparks, my words among mankind !
—Shelley.

शृंगार के नवीन उपादानों के कारण आधुनिक गीति-काव्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं, क्योंकि वे गीति-काव्य की परम्परा का ध्यान रखकर ही लिखे गए हैं और प्रबन्ध-काव्यों के अंग होते हुए भी स्वतंत्र हैं।

अब जो प्रियतम को पाऊं,
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाउँ !
आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ ?
ऊषा-सी आई थी जग में, सन्ध्या सी क्या जाऊँ ?
श्रांत पवन-से वे आवें, मैं सुरभि-समान समाऊँ !
मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ;
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ !
इधर अनल है और उधर जल, हाय ! किधर मैं जाऊँ !
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट, कहतो हा हा खाऊँ !

× × ×

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल होतो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हर नेत्र निहारो !
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो !

× × ×

सो, अपने चंचलपन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुंजन, सो !
सो, मेरे अचल-धन, सो !

तनिक पार्श्व-परिवर्त्तन करले,
उस नासा-पुट को भी भरले,
उभय पक्षका मन तू हरले,
मेरे व्यथा-विनोदन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

रहे मन्द ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट कसाला ?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन सो !

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती ढलक रहे हैं,
मेरे अपलक दर्शन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

तेरी साँसों का निस्पन्दन,
मेरे तप्त हृदय का चन्दन !
सो, मैं करलूँगी भरक्रन्दन !
सो, उनके कुल-नन्दन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

खेले मन्द पवन अलकों से,
पोछूँ मैं उनको पलकों से,
छद-रद की छवि की छलकों से

पुलक-पूर्ण शिशु यौवन सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा हा पाते ?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था त्यागा;
रहें स्मरण ही आते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
जायँ सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुखसे,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?—

आज अधिक वे भाते !
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।
मीड़ मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक;
चातक की द्रुत हृदय-हूति जो, सो कोइल की कूक।
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
छेड़ो न वे लता के छाले, उड़ जावेगी धूल,
हलके हाथों प्रभु के अर्पण कर दो उसके फूल,
गन्ध है जिनका जीवन-दान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
कादम्बिनी-प्रसव की पीड़ा हँसी तनिक उस ओर,
क्षिति का छोर छू गई सहसा वह बिजली की कोर !
उजलती है जलती मुसकान,
रुदन का हँसना ही तो गान।
यदि उमंग भरता न अद्रि के ओ तू अन्तर्दाह,
तो कलकल कर कहाँ निकलता निर्मल सलिल-प्रवाह ?
सुलभ कर सबको मज्जन-पान।
रुदन का हँसना ही तो गान।

पर गोपा के भाग्य-भाल का उलट गया वह इन्दु,
टपकाता है अमृत छोड़कर ये खारी जल-बिन्दु !
कौन लेगा इनको भगवान ?
रुदन का हँसना ही तो गान ।

---

[११]

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'—स्वर्गीय 'प्रसाद' जी इस युग के सर्व व्यापी कलाकार थे। उनकी मौलिक प्रतिभा से हमारे साहित्य का अंग-अंग समुन्नत हुआ है। प्रसाद जी ने बौद्ध एवं मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति और समाज का अध्ययन बड़े मनोयोग से किया था। जिसका पूर्ण आभास हमें उनके नाटकों में मिलता है। हिन्दी-नाटक को उन्होंने साहित्यिक रूप-रंग देकर बहुत ऊपर उठाया। क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या इतिहास और निबन्ध सबही में 'प्रसादत्त्व' की छाप है। मुख्यकर प्रसाद जी नाटककार हैं, किन्तु उनका दार्शनिक कवि छाया की भाँति सर्वत्र पीछे पीछे चलता है। फिर भी नाटकों में पूर्णतया नाटककार हैं, कहानियों में कुशल कहानी लेखक, उपन्यासों में उपन्यासकार और काव्य में महाकवि एवं गीति-काव्य में भावुक, संवेदनशील गायक। उन्होंने हमारे काव्य को 'कामायनी' द्वारा बौद्धिक-चेतना प्रदान की, जिसमें मानव के मानसिक विकास का महान सन्देश छिपा है। गोस्वामी तुलसीदास जी मानव जीवन के महान कवि हैं तो प्रसाद जी आधुनिक काव्य में निस्सन्देह मानव-हृदय के।

काव्य में युग की नवीन प्रवृत्तियों के वे सूत्र-पात करने वाले थे। अज्ञात की अनुभूति में 'प्रेम की पीर' से रहस्यवाद का सृजन उन्होंने ही किया। जिससे आधुनिक काव्य में प्रेम-साधना का पवित्र-स्रोत बह निकला और जीवन प्रेम की ही अभिव्यक्ति बनता चला गया। खड़ीबोली में आधुनिक शैली के गीतों की रचना सब से प्रथम प्रसाद जी ने ही की। आगे चल कर उन्हीं का सर्वत्र अनुकरण किया गया। वे खड़ीबोली के न केवल सर्व प्रथम ही वरन् सर्वश्रेष्ठ भी गीति-काव्य हैं।

सब से पहले उनके गीतों की साहित्यिक प्रतिभा का मौलिक प्रकाश हमें उनके नाटकों में मिलता है। अब तक नाटक-कम्पनियों में केवल तड़क-भड़क के गानों के आधार पर ही गीतों की रचना होती थी। न उनमें भाव का लालित्य होता था और न भाषा का सौन्दर्य। किन्तु प्रसाद जी ने गीतों को जहाँ साहित्यिक रूप-लावण्य दिया वहाँ संगीत में भी नाटकीय-गीतों को बहुत समुन्नत किया। जिससे गीतों का स्तर सदैव ऊपर ही उठता चला गया। फलस्वरूप नवीन नाटकों के अतिरिक्त काव्य में भी उच्च कोटि के गीतों की रचना होने लगी। वास्तव में प्रसाद जी से ही आधुनिक गीति-काव्य का आरम्भ मानना चाहिए। क्योंकि उन्होंने ही परम्परागत पद-शैली एवं ब्रजभाषा से गीति-काव्य को उन्मुक्त कर नवीन रूप दिया। साथ ही संगीत की मिटती रुचि को ओज प्रदान कर साहित्य की वस्तु भी बना दिया। अतएव क्या संगीत, क्या भाव-भाषा और शैली, सब ही में उनका गीति-काव्य युगकारी है। प्रसाद जी की कल्पना प्रकृति के अन्तःकरण में मिलकर अनुभूति की गहरी छाया पड़ते ही हृदय से स्वाभाविक स्रोत में बह निकलती है। उनके गीत मानव-हृदय की रह-रह कर उठती हुई प्रकृत भावनाओं के स्वाभाविक चित्र हैं; जिनमें कभी सुख है, कभी दुख; कभी आशा है, कभी निराशा। वे अन्तःकरण के उच्छ्वास हैं और युग की प्रतिध्वनि के साकार चित्र।

संसार में दुख ही दुख है। मानव आज संघर्ष से दुखी हो कर आकुल व्याकुल हो उठा है। आर्थिक संकट और राजनीतिक बन्धनों से निराशा का अन्धकार उमड़ उमड़ कर आ रहा है। क्रान्तिकारी भावनाओं से आज मानव मर चला है। क्या जीवन का अन्त यही है? इसी निराश-भावना से आज वे दुखी होकर कलप रहे हैं। किन्तु प्रसाद जी में जहाँ इस निराशा का घन-घोर अँधेरा है, वहाँ प्रकाश की उज्ज्वल रेखा—आशा भी। यही आशा उनके गीतों का महान सन्देश है। भक्ति-काल के गीतों में भक्ति-भावना से आत्मा को परम प्रकाश और पारलौकिक शान्ति मिली, किन्तु प्रसाद जी के गीतों में विकल जीवन को आशा का सन्तोष और आनन्द। मनुष्य के लिए

निराशा एक अभिशाप है और आशा दिव्य-प्रोत्साहन। इसी के सहारे मानव जीवित है और उसका यह विश्व भी। आधुनिक युग में इस सजगता का श्रेय प्रसाद जी को ही है। और वह भी उनके दुर्दिन में बरसे हुए 'आँसू' में। वैभव शाली अतीत की स्मृति में कवि व्यथित होकर रो उठता है। निराशा उसे विभ्रान्त कर देती है। तब अनन्त की चाह में विरह वेदना से पीड़ित होकर वह रो रो कर अपनी करुण-कहानी कहने लगता है,—

> **रो रो कर, सिसक-सिसक कर**
> **कहता मैं करुण-कहानी**
> **तुम सुमन नोचते सुनते**
> **करते जानी अनजानी।**

इस घनीभूत पीड़ा से विश्वभर में निराशा की अन्तर्ज्वाला फैल जाती है। किन्तु इसी पीड़ा में चिरन्तन सत्य की मधुर आह है, और आह में गहरी अनुभूति। तब वह कह उठता है,—

> **शशिमुख पर घूँघट डाले**
> **अंचल में दीप छिपाये**
> **जीवन की गोधूली में**
> **कौतूहल से तुम आये।**

तब उसमें आशा की किरण सजग होती है। वह उस प्रियतम से प्रार्थना करता है,—

> **निर्मम जगती को तेरा**
> **मंगल मय मिले उजाला,**
> **इस जलते हुए हृदय की**
> **कल्याणी शीतल ज्वाला।**

इस मंगलमय उजाले का कितना सुन्दर निर्वाह कवि ने नीचे की पंक्तियों में किया है। सुख-दुख, राग-विराग, अच्छा-बुरा सब मानव के मन की रचना हैं। संसार एक विस्तृत क्षेत्र है। जहाँ कभी मिलन का सुख है और कभी वियोग का दुख। संसार का कुछ चक्र ही ऐसा है,—

मानव - जीवन - वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का;
सुख दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का।

इसमें चिरन्तन सत्य है और इस सत्य में आशा का विपुल प्रकाश। और वह है मन में सदैव उल्लास की भावना को जागृत रखना। क्योंकि संसार का चक्र ही जब ऐसा है तो मानव फिर दुखी क्यों हो। इस भावना के उदय होते ही कवि आशा के शुभ आलोक से विभोर हो उठता है। तब उसके हृदय से निकलता है,—

हे जन्म जन्म के जीवन—
साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में।

'आँसू' कवि के अन्तर्जगत का पूर्ण चित्र है। अपसे विरह की अत्यन्त तीव्र वेदना में कवि विश्व के कण-कण में व्याप्त परम ज्योति के दर्शन कर लेता है। 'आँसू' में कथानक न होते हुए भी विचार-शृंखला है, क्योंकि उसमें मानसिक विचारों का सम्बद्ध विकास हुआ है। अतएव यह एक पूर्ण विरह-काव्य है उसका एक एक पद अनुपम है, काव्य सौन्दर्य का सागर है, भाव-जगत का चित्रण है और संगीत की सरल माधुरी है। भावों को विरह में जो मृदुलता मिली है वह सुकुमार भाषा पाकर और भी मधुर हो गई है। आधुनिक गीति-काव्य में 'आँसू' सर्व श्रेष्ठ काव्य है।

'लहर' में कवि की निराशा की प्रतिक्रिया होती है। अब आनन्द, सुख और उल्लास एवं आशा की लहर सर्वत्र फैल जाती है। किन्तु कभी कभी अतीत की याद मिटते बुलबुलों की भाँति उस आनन्द-लहर में उठती रहती है। 'लहर' प्रसाद जी के स्फुट गीतों का संग्रह है। जिसमें मुक्त-छन्द की कुछ ऐतिहासिक सुन्दर कविताएँ भी हैं। गीति-काव्य की दृष्टि से 'लहर' भी 'आँसू' के समकक्ष है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के

रूप-सौन्दर्य की भावमय व्यंजना। भावुक चित्रकार की भाँति प्रसाद जी प्रकृति की रंग-विरंगी वेश-भूषा में तन्मय होकर उसका हू बहू चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। इस रूप-चित्रण में केवल वाह्य-सौन्दय ही नहीं है वरन् उनके अन्तःकरण की हलकी रेखाएँ भी स्पष्ट झलकती हैं। कितना सुन्दर सामंजस्य है,—

जहाँ साँझ सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील-नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घना रे।

और,—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबा रही—
ताराघट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु - मुकुल - नवल-रस-गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

उनके सर्व श्रेष्ठ गीतों में से यह गीत भी एक है। जिसमें तारों भरी रात का कितना सुन्दर रूप-चित्रण किया है। एक-एक शब्द में संगीत है, प्राण है। और यह चित्रकार अन्त में मधुर भावना से प्रकृति के प्रेम-सौन्दर्य में विह्वल होकर कितना तन्मयकारी प्यार लुटा देता है,—

काली आँखों का अंधकार
जब हो जाता है वार-पार,

मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार—
वह चित्र ! रंग का ले बहार
जिसमें है केवल प्यार प्यार !

अतएव कवि में जहाँ आत्माभिव्यक्ति है, भाव-व्यंजना है,वहाँ संवेदना भी है। गीतों में कल्पना, भावना और अनुभूति का अनुपम मिश्रण हुआ है।

'कामायनी' पौराणिक आधार पर रचा हुआ दार्शनिक और बौद्धिक तत्त्व में प्रधान काव्य है, किन्तु उसमें प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्यों के दर्शन होते हैं। यद्यपि उसमें मस्तिष्क ही प्रधान है किन्तु हृदय भी कहीं साथ नहीं छोड़ता। उसका यह गीत मार्मिकता और मधुर व्यंजना का कितना द्योतक है—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल,
खोलती जब नींद के पल;
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय की वात रे मन।
चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की,
मैं उषा सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन !
जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन !

नाटकों के गीतों में राग-रागनियों की आदर्श मर्यादा है। शब्द-योजना का अनुपम सौन्दर्य है। जिसमें वे गीत साहित्य एवं संगीत की क्लासिकल वस्तु

हो गए हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक के नीचे वाले गीत में प्रगीतत्त्व अपनी सौन्दर्य-सीमा को पहुँच गया है। ऐसे गीत बहुत ही कम मिलेंगे जिनमें भाव-व्यंजना के साथ कौतूहल और विस्मय मिलकर नेत्रों में सौन्दर्य का साकार चित्र खींचते हों,—

तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिपकर आते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रसकन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कंगारों में
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधु सरिता सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?
बेला विभ्रम की बीत चली
रजनी-गन्धा की कली खिली
अब सान्ध्य मलय-आकुलित दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

'लाज भरे सौन्दर्य' की मधुर झंकार पहुँचते ही नेत्रों में सौन्दर्य साकार होकर रोम रोम को पुलकित कर देता है। इसी प्रकार भाव-सौन्दर्य, शब्द योजना और माधुर्य में उसके अन्य गीत भी बहुत सुन्दर हैं। 'स्कन्दगुप्त' में एक गीत भावाभिव्यंजन की सुकुमारता और शब्द माधुरी में कमाल रखता है। उसमें कितनी गहरी आह है,—

आह वेदना मिली विदाई;
मैंने भ्रमवश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छल-छल थे संध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन-विपिन की तरु छाया में

पथिक, उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई ?

और प्रेम भरे इस जीवन के संघर्ष में उसकी आशा छिन्न-भिन्न होकर टूट जाती है निराशा का प्रलय अन्त में वेदना से विकल कर छोड़ जाता है,—

मेरी आशा आह ! बावली !
तू ने खोदी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन रथ में,
प्रलय चल रहा अपने पथ में,
मैंने निज दुर्बल पद-बलपर—
उससे हारी होड़ लगाई।

अतएव प्रसाद जी आधुनिक गीति-काव्य में सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में—"इस कवि में जो मस्ती है, भावना एवं अनुभूति की जो मृदुता है और मानव-जीव के उत्कर्ष का जो गौरव है, उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीति-काव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी। + + + गीति-काव्य के लिए कवि में सौन्दर्य-वृत्ति (Aesthetic sense) होनी चाहिए, वह कवि प्रसाद के जीवन में ओत-प्रोत थी। इस प्रकार के काव्य के लिए स्वानुभूति दूसरा अनिवार्य गुण है, जिसकी मात्रा 'प्रसाद' में पर्याप्त है।"[1] वे हमारे अमरकला-कार हैं।

मकरन्द मेघ-माला सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।

है हृदय शिशिरकण पूरित
मधु वर्षा से शशि तेरी
मन-मन्दिर पर बरसाता
कोई मुक्ता की ढेरी।

---

[1] **श्री रामनाथ 'सुमन'**

शीतल समीर आता है
कर पावन-परस तुम्हारा
मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसा कर आँसू-धारा।

मधु-मालतियाँ सोती हैं
कोमल उपधान सहारे
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर
गिनता अम्बर के तारे॥

निष्ठुर! यह क्या, छिप जाना?
मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा।

—आँसू

आँखों में अलस जगाने को,
यह आज भैरवी आई है।
ऊषा-सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है।
कहता दिगन्त से मलय पवन
प्राची की लाज-भरी चितवन।
है रात घूम आई मधुबन,
यह आलस की अंगड़ाई है।
लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
सागर का उद्वेलित अंचल,
है पोंछ रहा आँखें छल छल,
किसने यह चोट लगाई है?

—स्कन्दगुप्त

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्रान समाजा रे
जिसके कन-कन में स्पन्दन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुना का नव-अभिनन्दन हो
वह जीवन गीत सुना जा रे!
मेरी आँखों की पुतली में,
तू बनकर प्रान समा जा रे॥
खिंच जाये अधर पर वह रेखा
जिसमें अंकित हो मधु लेखा
जिसको यह विश्व करे देखा
वह स्मित का चित्र बना जा रे।
मेरी आँखों की पुतली में,
तू बनकर प्रान समा जा रे॥
—'चंद्रगुप्त'

सब जीवन बीता जाता है
धूप छाँह के खेल सदृश। सब०
समय भागता है प्रतिक्षण में
नव-अतीत के तुषार-कण में
हमें लगाकर भविष्य रण में
आप कहाँ छिप जाता है? सब०
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके
मेघ और बिजली के टोंके
किसका साहस है कुछ रोके
जीवन का वह नाता है। सब०
वंशी को बस बज जाने दो
मीठी मीड़ों को आने दो

आँख बन्द करके गाने दो
जो कुछ हमको आता है। सब०

—'स्कन्दगुप्त'

सघन-वन बल्लरियों के नीचे।
उषा और सन्ध्या किरनों ने हार बीन के खींचे;
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे;
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मींचे।
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे;
मानस-तरी भरी करुना-जल होती ऊपर नीचे।

—'कामना'

---

[१२]

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—श्री 'निराला' जी साहित्य की पुरातन प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह लेकर आए। और उनका विद्रोह था काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से उन्मुक्त करके स्वाभाविक-प्रवाह में बहाना। जिसमें न छन्द का बन्धन था, न तुक का लगाओ। इस विद्रोह का हिन्दी-संसार में जी खोलकर प्रतिवाद हुआ। किन्तु निराला जी गम्भीर भाव से अपने सत्य के पथ पर आरूढ़ रहे। वे इस उन्मुक्त भावना को संगीत में भी चलाना चाहते थे किन्तु इस विरोध का विचार कर चुप हो गए। वे स्वयं कहते हैं—'मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया।'

निराला जी सौन्दर्योपासक कवि हैं। उनकी अद्वैतवादी दार्शनिक भावनाओं ने उन्हें विशेष दुरूह बना दिया, जिसका प्रभाव उनके गीतों पर भी समुचित पड़ा है। इस जटिलता और कठिनता के कारण ही हिन्दी जनता उनकी उत्कृष्ट भावनाओं और काव्य-कला को हृदयंगम न कर सकी। किन्तु हिन्दी भाव-जगत का स्तर ऊपर उठने से वे भी दिनोंदिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

निराला जी उपन्यासकार, कहानी लेखक और आलोचक भी हैं। किन्तु मुख्यकर वे कवि ही हैं। संस्कृत और बंगला साहित्य का उनके ऊपर

समुचित प्रभाव पड़ा है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का आभास न केवल साहित्य के भिन्न भिन्न अगों में ही वरन् काव्य-कला की विशदता में मिलता है। उनमें एक महान् कलाकार की प्रतिभा है। रहस्यवाद के इस युग में हम अपने कवियों को सर्वत्र किसी विश्वव्यापी सत्ता के वियोग में प्रेम-रुदन ही करते पाते हैं। उसकी अनुभूति में कवि की कल्पना की कोई सीमा नहीं। क्षितिज के पार भी अन्तर्दृष्टि दिङ्मण्डल में भूखी प्यासी, विरहकातर होकर उसकी ही खोज में बौराई सी फिरती है। जिससे काव्य में केवल प्रेम और करुणा की ही तीव्र अभिव्यक्ति हो रही है। अन्य रसों का उतना उल्लेख नहीं पाते। निराला जी करुण और शृंगार के तो रस-निधि हैं ही, साथ ही उनके काव्य में अन्य रसों की भी सुन्दर व्यंजना है। वीर और रौद्र रस की रचनाएँ बड़ी सुन्दर हैं किन्तु जब निराला जी की विशाल पर सौम्य मूर्ति उनमें अभिनय भर देती है तो उनका प्रभाव अमिट रूप से पड़ जाता है। कविता पाठ और अभिनय का ढंग निराला जी का निराला ही है। भाव-भाषा को उन्होंने अपार ओज दिया है। जिससे हिन्दी में शब्द की शक्ति-ध्वनि और प्राण का पर्याप्त विकास हुआ है।

उन्होंने जीवन की शृंगारिक भावनाओं के नितान्त नग्न चित्र खींचे हैं किन्तु उनमें अश्लीलता नहीं—विलास की सौन्दर्य वृत्ति है। 'जूही की कली' इसी प्रकार की एक मुक्त-छन्द रचना है। जिसमें अँग्रेजी लय का मधुर संगीत है। इसमें कवि के शृगार-चित्र प्रकृतिमय होकर सजीव हो उठे हैं। सम्पूर्ण भावना पढ़ते पढ़ते ही नेत्रों में चित्रोपम होकर रम जाती है। जिसमें प्रकृति सुलभ सुकुमारता भी है और गति भी। निम्न पंक्तियों में अश्लीलता की भावना के जाग्रत होते ही,—

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों झाड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिए गोरे कपोल गोल;

कवि ठिठक जाता है। और अन्त में कितनी पवित्रता के साथ चित्र की समाप्ति करता है,—

हेर प्यारे को सेज-पास
नम्र मुखी हँसी-खिली,
खेल रङ्ग, प्यारे-सङ्ग,

इसी प्रकार की उनकी 'शेफालिका' भी है। जिसका यौवन उन्मत्त होकर रोम-रोम से फूट निकला है। जिससे कंचुकी का एक एक बन्द टूट पड़ा है। इन गीतों में शब्द-चित्र बड़े ही स्पष्ट और मार्मिक हैं।

घनघोर बादल की भयंकरता को देखकर कवि का मानस भी उद्वेलित हो उठता है। और वह अपनी गर्जन-तर्जन से उसे आह्वान करके कहता है,—

बादल, गरजो!—
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ!

बादल उठते ही पृथ्वी पर भय की छाया फैल जाती है। किन्तु तनिक देर बाद ही वह घुलकर शीतल जल की वर्षा कर देता है। पृथ्वी पर सुख-सौरभ बिखर जाता है। कवि के ओज में उठी उद्दाम भावना धीरे धीरे वर्षा की कल्पना और अनन्त की अनुभूति में परम शान्त और शीतल हो जाती है,—

आये अज्ञात दिशा से अनन्त के घन!
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल करदो :—
बादल गरजो!

रूप-चित्रण में प्रसाद जी रंगीन चितेरे हैं तो निराला जी चल-चित्रों के कुशल प्रदर्शक। एक ओर कवि में उग्रता है, कठोरता है, ओज है तो दूसरी ओर मृदुल सुकुमारता और अनन्त माधुर्य। प्रकृति के उल्लास में वह कितना कोमल है, कितना प्रसन्न है,—

सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष बन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।

इस प्रकार निराला जी ने सभी रसों का प्रयोग किया है। वास्तव में घनघोर बादल की भाँति उनके अन्तःकरण में यदि कड़कड़ाती, चमचमाती विद्युत-रेखा है, भयानक गर्जन है, कालिमा का अंधकार है और प्रलयंकारी विभूति है तो शान्त-रस की शीतल वर्षा भी। जिससे सन्तप्त धरा का दुख-ताप विनष्ट होकर संसार में आनन्द छा जाता है और प्रकृति प्यार का सिन्दूर बिखेर देती है। निराला जी हमारे काव्य-कानन के कल्पतरु हैं। गीति-काव्य के मर्मज्ञ हैं।

हिन्दी गीतों में उनकी अपनी कला है, अपना स्कूल है, और अपना ही संगीत भी। उनके गीतों में एक ओर दार्शनिक कवि है, दूसरी ओर कुशल भावुक गायक। जिससे गीत दार्शनिक विचारों के होते हुए भी संगीतमय हैं। उनका शब्दों पर पूर्ण अधिकार है, स्वर-साधना की अपार क्षमता है। इसी में उनकी प्रतिभा है। बंगला की भाँति हमारा संगीत भी अंग्रेजी संगीत से प्रभावित हुआ है। किन्तु राग-रागनियों और स्वर-मैत्री में भारतीय संगीत की ही रक्षा की गई है। निराला जी स्वयं कहते हैं, "राग-रागिनियों में भी स्वतंत्रता ली गई है। भाव-प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर-विशेष लगाये गये हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्रित हो गया है। यह भाव प्रकाशन वाला बोध पश्चिमी संगीत-बोध के अनुसार है।" और अन्त में अपने संगीत के विषय में कहते हैं—"जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं। प्राचीन ढंग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रँग पैदा करेंगी।" इस शैली का आभास हमें पन्त जी के गीतों में भी मिलता है। अन्यत्र उसका अधिक प्रचलन नहीं।

निराला जी के गीतों में भाषा और शब्द चयन भावों के अनुरूप हैं। कोमल भावनाओं में ओज पूर्ण और क्लिष्ट भाषा को बचाया गया है। 'परिमल' में तीन प्रकार के गीत हैं,—सतुकान्त, अतुकान्त और मुक्तक। कुछ गीत तो वास्तव में बहुत सुन्दर हैं। जैसे,—

अलि, घिर आये घन पावस के ।
लख ये काले काले बादल
नील-सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के—

शब्द संगीत के प्रवाह में नाचते चलते हैं, जिनके साथ भाव भी सुन्दर वेणी की भाति गुँथता चलता है । शब्द-चित्र पूर्ण है और भावना बहुत ही मधुर । यह गीत उनके सर्वोत्तम गीतों में से है विशेषकर संगीत की दृष्टि से । कवि मन में सौन्दर्य का साम्राज्य निर्मित कर प्रियतम की कल्याणकारी अनुभूति में उसके प्यार की प्रतीक्षा करता ज्ञात होता है ।

'गीतिका' निराला जी के छोटे छोटे, भावापन्न, रागानुरंजित गीतों की मनोरम वाटिका है । किन्तु इन गीतों में भी कवि रहस्यवाद और दार्शनिक विचारों से छुटकारा न पा सका । इससे गीतों की सरलता और मधुरता दोनों छिन गई हैं । फिर भी कुछ गीत आदर्श गीत कहे जा सकते हैं । चिरन्तन की अनुभूति से अन्तःकरण परितृप्त हो जाता है, नेत्र नम जाते हैं । कितनी मधुर अनुभूति है,—

देख दिव्य छवि लोचन हारे ।
रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रमरुचि,
पलक तरल तम, मृग-दृग-तारे ।

कवि में एक प्रकार की नवीन भक्ति है, जिसमें मानव-साधना के द्वारा ईश्वर-विशेष की प्राप्ति नहीं, किन्तु प्रकृति के अन्तःकरण में एक अनन्त शक्ति के शुभ दर्शनों का रस पान किया जाता है । कितनी तन्मयता है,—

प्राणधन को स्मरण करते
नयन झरते—नयन झरते !

स्नेह-जल से मानस-सागर उद्वेलित है । शशि-प्रभा की धवल किरण अश्रु का अविरल श्रोत है । स्नेह के बादल उमड़ घुमड़ मन-उपवन पर छा

रहे हैं। दुख से धरा सन्तप्त है। भक्त के हृदय में विरहाग्नि है, जिससे नेत्रों से आँसू बादल बनकर बरस रहे हैं और अमृत की वर्षा से दुख-सन्ताप मिटा रहे हैं। इस रस से भक्त के अधर भर गए हैं। कितनी सुन्दर भावना है। पर कवि सन्ताप, निराशा और सन्देह में एक आर्त पुकार करता है,—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?

'मरु के तरु' के लिए 'स्तब्ध, दग्ध' जैसे कठोर विशेषणों के प्रयोग से निराला जी की भावानुकूल-भाषा में दक्षता का पता चलता है।

इस प्रकार निराला जी के वे गीत जो भावना में सुकुमार हैं, संगीत में, भाषा में, सरलता में भी वही सुन्दर हो सके हैं। उनकी अनुभूति में, कल्पना और संगीत में कविता का अलौकिक सामंजस्य हुआ है। किन्तु उनमें आत्म-परिचय और कल्पना की प्रचुरता है। अधिकतर गीत जीवन के दार्शनिक-विचारों का ही उल्लेख करते हैं। अतएव वे साधारणतया गीति-मधुर नहीं हैं। अर्थ भी भावना की जटिलता में उलझ-सा जाता है। साथ ही संस्कृत शब्दावली की क्लिष्टता से कहीं कहीं पर निरी कृत्रिमता के ही दर्शन होते हैं। फिर भी निराला जी ने हिन्दी-काव्य को अनुपम गीत दिए हैं, जिनका अपना विशिष्ट स्थान है।

प्रसाद जी और निराला जी के गीतों में विशेष अन्तर नहीं है। सौन्दर्य-पिपासा, अज्ञात की गहरी अनुभूति, निराशा के बाद आशा का सन्देश दोनों में ही प्रधान है। पर निराला जी दार्शनिक होकर कवि हुए हैं और प्रसाद जी कवि होकर दार्शनिक। पंत जी में सौन्दर्य-वृत्ति उन्हीं के समान है, किन्तु प्रकृति-जन्य भाषा और भावों की प्रचुरता एवं मृदुलता में वे निरालाजी से आगे हैं। पर निराला जी की कला का क्षेत्र पंत जी से अधिक विस्तृत है कहना न होगा कि निराला जी हमारे गीति-काव्य के अमर कलाकार हैं।

विनय

पथ पर मेरा जीवन भरदो,
बादल हे अनन्त अम्बर के !
बरस सलिल, गति ऊर्मिल कर दो !
तट हों विटप छाँह के, निर्जन,
सस्मित-कलिदल चुम्बित-जलकण,
शीतल शीतल बहे समीरण,
कूजें द्रुम-विहङ्गगण, वर दो !
दूर ग्राम की कोई वामा
आये मन्दचरण अभिरामा,
उतरे जल में अवसन श्यामा,
अङ्कित उर-छबि सुन्दरतर हो !

—'अनामिका'

प्रिय मुद्रित दृग खोलो !
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव किरणों से धोलो—
मुद्रित दृग खोलो !
जीवन-प्रसून वह वृन्त हीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर
बह चलीं चतुर्दिक कर्म-लीन,
तुम भी निज तरुण-तरङ्ग खोल
नव-अरुण-सङ्ग हो लो—
मुद्रित दृग खोलो !
वासना-प्रेयसी बार-बार
श्रुति-मधुर मन्द स्वर से पुकार

कहती, प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में, प्रिय, आई बहार,
बहती इस विमल वायु में
बह चलने का बल तोलो—
मुद्रित दृग खोलो !

बह चली अब अलि, शिशिर-समीर !
काँपी भीरु मृणाल-वृन्त पर
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर,
प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर !
बन-देवी के हृदय-हार से
हीरक झरते हर सिँगार के,
बेध गया उर किरण-तार के
विरह-राग का तीर !
विरह-परी-सी खड़ी कामिनी
व्यर्थ बह गई शिशिर-यामिनी,
प्रिय के गृह की स्वाभिमानिनी
नयनों में भर नीर !

देख दिव्य छवि लोचन हारे ।
रूप अतन्द्र, चन्द्रमुख, अमरुचि,
पलक तरल तम, मृग-दृग-तारे ।

द्वेष-दम्भ-दुख पर जय पाकर
खिले सकल नव अङ्ग मनोहर,
चितवन संसृति की सरिता तर
खड़ी स्नेह के सिन्धु-किनारे ।

जग के रङ्ग मञ्च की सङ्गिनि,
अयि परिहास-हास-रस-रङ्गिनि,
उर-मरु-पथ की तरल तरङ्गिनि,
दो अपने प्रिय स्नेह-सहारे।

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?

जग के दूषित बीज नष्टकर,
पुलक-स्पन्द भर, खिला स्पष्टतर,
कृपा-समीरण बहने पर, क्या
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा ?

मेरे दुख का भार, झुक रहा,
इसीलिए प्रति-चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?

अलि घिर आए घन पावस के,
लख ये काले-काले बादल,
नील सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के—
अलि, घिर आए घन पावस के।
द्रुम समीर-कम्पित थर थर थर,
झरती धाराएँ झर झर झर,
जगती के प्राणों में स्मर-शर
बेध गए कसके—

अलि, घिर आए घन पावस के।
हरियाली ने, अलि, हरली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की,
मन्द-गन्ध कुसुमों में लिख दी
लिपि जय की हँस के—
अलि, घिर आए घन पावस के
छोड़ गये गृह जब से प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे बस के—
अलि, घिर आए घन पावस के।

---

[१३]

श्री सुमित्रानन्दन पन्त—पन्त जी में जीवन है, जीवन में काव्य और काव्य में प्रकृति। सृष्टि के सौन्दर्य में उनकी आत्मा का चिरन्तन तारतम्य मिल गया है। इसी कारण उनका काव्य प्रकृति की और विश्व-व्यापक सत्ता की चरम अभिव्यक्ति करता है। रहस्यवाद में प्रकृति के द्वारा ही अज्ञात की अनन्त सौन्दर्य-विभूति के दर्शन होते हैं। फूल में, पत्ती में, किरण में, नक्षत्र में—सभी कहीं कवि उसका अनन्त-अनुभव करता है। और इसका स्वाभाविक अनुभव कर सके हैं सुकुमार कवि, पंत जी। सैद्धान्तिक रहस्यवाद की उनमें छाया तक नहीं, किन्तु रहस्यमय अनन्त की अनुभूति सर्वत्र है। उनका रहस्यवाद प्रकृति के पीछे पीछे चलता है। वे रहस्यवाद के स्वाभाविक कवि हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान और अनुभूति की गहराई से यह प्रकृति-जन्य सौन्दर्य उनके काव्य को उल्लास से भर देता है। उनकी कविता के विषय में उन्हीं की पंक्तियाँ कितनी उपयुक्त हैं। उसमें,—

क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता,
मोद, मधुरिमा हास, विलास,

लीला, विस्मय अस्फुटता, भय,
स्नेह, पुलक, सुख, सरल-हुलास !

आदि सबही गुणों की प्रचुरता है। इससे वे ही स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के सच्चे कवि हैं। पन्त जी को प्रकृति में ही प्रेमानुभूति होती है। उसके सौन्दर्य से उनके हृदय का तार तार प्रकम्पित हो जाता है। प्रकृति का प्राण उनका ही जीवन सा ज्ञात होता मानव-भावनाओं का प्रकृति से तादात्म्य करने में वे एक सफल कलाकार हैं। पन्त जी मुख्यकर सौन्दर्योपासक कवि हैं।

पन्त जी ने बंगला, अंग्रेज़ी और संस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। अतएव तीनों साहित्यों का उनकी काव्य-कला पर प्रभाव पड़ा है। उनका कवि कल्पना को लेकर चलता है किन्तु चिन्तन के साथ। शब्दों की अन्तरात्मा, उनके रूप-रंग और चयन का उन्हें दिव्य-बोध है। उनकी भाषा वास्तव में प्रकृति का रंग-विरंगा चित्र सा ही ज्ञात होती है। प्रकृति के रूप-चित्रण में पन्त जी अद्वितीय हैं। चित्रमय विशेषणों से उसमें और भी सौन्दर्य आ जाता है। एक एक शब्द भाव-तूलिका का हलका पर साफ़ स्पर्श सा दिखाई पड़ता है। पद को पढ़ते पढ़ते ही भावना साकार होकर प्रकृति में रम जाती है और प्रकृति सजीव होकर स्पन्दित हो उठती है।

'पल्लव' एक अनुपम प्रकृति-काव्य है, जो काव्य-कला की दृष्टि से भी पन्त जी की उत्कृष्ट रचना है। उसमें ही रोमान्टिक तत्त्व की प्रधानता है। 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल' और 'परिवर्तन' आदि कविताओं में वह बहुत निखर कर आया है। यद्यपि ये रचनाएँ भाव पूर्ण हैं और मधुर भी किन्तु उनमें प्रगीतत्त्व का पूर्ण निर्वाह नहीं है। हाँ कुछ कविताएँ अवश्य ही सुन्दर गीत हैं, जैसे—'मधुकरी',—

सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे-गान,
कुसुम के चुने कटोरों से
करादो ना, कुछ कुछ मधु-पान !

इसमें संगीत की प्रचुरता है, भाव भी मनोहर है, साथ ही संक्षिप्त भी है। शब्द चयन बहुत ही मधुर है, पर सबसे अधिक है मधुपकुमारि की मनुहार।

'मौन-निमन्त्रण' उनका एक बहुत ही सुन्दर गीत है। उसका एक एक पद भाव में पूर्ण है। उसकी हृदय पर अमिट निशानी पड़ जाती है। कल्पना की उत्कृष्टता और अज्ञात की अनुभूति में कवि को प्रकाश में, सघन-मेघों में, वसुधा के यौवन में, उद्वेलित सिन्धु में, विश्व के अनन्त सौन्दर्य में और तुमुल तम में भी न जाने कौन रह-रह कर प्रकाश के सन्देश से मौन-निमन्त्रण दे रहा है। भावना के साथ भाषा भी कितनी व्यंजक है,—

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है, जब मधु-मास
विधुर-उर के से मृदु-उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन!

"मौन-निमन्त्रण" हिन्दी कविता का अमर गीत है। सृष्टि के सौन्दर्य से कवि के जीवन में आनन्द उमड़-उमड़ कर आ रहा है। उसके कण्ठ से कितना उन्मुक्त गान निकलता है,—

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ!
वह अपनी वय-बाली में?
सजा हृदय की थाली में—

'छाया' भी एक अनमोल गीत है, किन्तु संक्षिप्त न होने से उसका सौन्दर्य बिखरसा गया है। उसमें अंग्रेज़ी के कवि कीट्स की 'नाइट-इन-गेल' की सी आभा मिलती है। दोनों भिन्न-भिन्न भावनाओं से एक ही सत्ता की अनुभूति करते हैं। बुल-बुल और छाया दोनों प्रतीक मात्र हैं। आत्माभिव्यक्ति और आत्मनिवेदन का इस गीत में विकास हुआ है। उस प्रतीक के द्वारा ही कवि संसार की दार्शनिक, करुण व्यंजना करके आशा-निराशा, विरह-मिलन

आदि की अनुभूति करता है। और अन्त में उसी के द्वारा अपने प्रियतम में तादात्म्य प्राप्त करता है,—

—हाँ सखि ! आओ, बाँह खोल, हम
लग कर गले, जुड़ाले प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अन्तर्धान !

इसके पश्चात 'गुञ्जन' में कवि कल्पना-जगत से उतर कर अनुभूति की भूमि में चला आया और वह मानव जीवन की ओर उन्मुख हुआ। प्रकृति के आनन्द के साथ वसुधा के दुःख-सन्ताप से भी वह विकल रोने लगा। वह उत्तरोत्तर आकाश से भूमि पर और भूमि से निराश मानव के बीच विचरण करता दिखाई देता है। लोक-जीवन की कवि अनुभूति करता है। किन्तु सर्वत्र अशान्ति देख निराश नहीं होता। वह देखता है यहाँ सुखी भी दुखी हैं और दुखी भी सुख के अभाव में विकल हैं। अपनी स्थिति से किसी को भी सन्तोष नहीं। तब वह इसका कितना सुन्दर समाधान करता है—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बंट जावें,
सुख दुख से, और दुख सुख से।

और तब कवि 'विश्वास' का दिव्य सन्देश देकर मानव के असन्तोष को हरने का कितना कल्याणकारी प्रयत्न करता है,—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन !

'गुञ्जन' में छोटे छोटे गीत हैं किन्तु उनमें जीवन की दार्शनिक अभिव्यंजना अधिक है। इससे उनके काव्य में गीतों की प्रचुरता नहीं। फिर भी कुछ गीत अवश्य ही सिहरा देने वाले हैं। निम्न गीत कितना सरल है, मधुर है और आत्म-व्यंजना पूर्ण है। रहस्यमयी भावना उसमें बड़ी सुकुमार है,—

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन-बन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल !
....

अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग-जग खग-बाल;
चाहो तो सुन लो जी खोल
कुछ भी आज न लूँगी मोल !

इनके अतिरिक्त,—

जीवन का उल्लास
यह सिहर, सिहर,
यह लहर लहर
यह फूल फूल करता विलास !

और,

नीरव तार हृदय में,
गूंज रहे हैं मन्जुल लय में;
अनिल-पुलक से अरुणोदय में।

आदि गीत भी बड़े सुन्दर हैं। 'ज्योत्सना' का यह गीत पन्त जी का एक आदर्श गीत है। जिसमें भाव और भाषा दोनों ही का अनुपम सौष्ठव है, आत्म-निवेदन है और भाव पूर्ण रूप से संगीत के साथ चलता है,—

जीवन का श्रमताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्णं से
सूने जग-गृह-द्वार भरो हे ! जीवन०

'युगान्त' में आते ही कवि की करुणा संसार के लिए मंगल-कामना का रूप धरकर सदैव जीर्ण-शीर्ण पुरातन की उपेक्षा कर नवीन संसार की रचना में लिप्त है। उसमें वह अधिकाधिक दार्शनिक और यथार्थवादी होता

चला गया है। वह कोकिल से प्रार्थना करता है,—

गा, कोकिल बरसा पावक कण!
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन!
पावक-पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!

इसमें गुप्त जी के "आ, जगत्प्राण, उठ जाग, जाग" और टेनीसन की "Ring out the old ring in the new" की प्रतिध्वनि मिलती है।

'युगान्त' के पश्चात् कवि मानव में पूर्णतया मिल जाता है। उसकी कला में, भावनाओं में, सब ही में एक प्रगति-शील परिवर्तन आ जाता है। 'युगवाणी' युग की सब ही भावनाओं की मधुर गुंजार है। उसमें पन्त जी ने निराला जी की भाँति मुक्त-छन्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु पन्त जी के मुक्त-छन्दों को देख कर उस उन्मुक्त-भावना के प्रति हमारा विरोध कुछ ठण्डा सा पड़ जाता है। 'पुण्य-प्रसू' जैसा लयकारी और मधुर गीत कम ही दृष्टि-गोचर होगा,—

देखो भू को!
जीव प्रसू को
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को!

यद्यपि पन्त जी में गीतों की प्रचुरता नहीं, पर उनके गीत बहुत सुन्दर हैं और सरल हैं। भाषा की मृदुता उनमें अपार है। पन्त जी की भाषा ने यह सिद्ध कर दिया है कि खड़ीबोली भी ब्रजभाषा के समान ही मधुर है। उन्होंने विशेष कर करुण और शृंगार रस को ही अपनाया है किन्तु अन्य रसों का अभाव नहीं है। 'परिवर्तन' में इनके अतिरिक्त वीर, भयानक, वीभत्स

और शान्त आदि रसों का भी सुन्दर समावेश हुआ है। गीति-काव्य में उनका स्थान अवश्य ही आदरणीय है।

लाई हूँ फूलों का हास;
लोगी मोल, लोगी मोल?
तरल तुहिन-बन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल?
फैल गई मधु-ऋतु की ज्वाल,
जल-जल उठतीं बन की डाल;
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल?
उमड़ा पड़ा पावस परि प्रोत,
फूट रहे नव नव जल-स्रोत,
जीवन की ये लहरें लोल;
लोगी मोल, लोगी मोल?
विरल जलद-पट खोल अजान
छाई शरद - रजत - मुसकान,
यह छबि की ज्योत्स्ना अनमोल
लोगी मोल, लोगी मोल?
अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग-जग खग-बाल;
चाहो तो सुनलो जी खोल
कुछ भी आज न लूँगी मोल!

सिखा दो ना, हे मधुप-कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे-गान,
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधु-पान!

नवल कलियों के धोरे झूम;
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित, कवि-सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि ! जग में घूम;
सुना दो ना, तब हे सुकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान !
किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर;
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड़-उड़ भोर;
मुझे भी बता दो न कुमारि !
मधुर निशि-स्वप्नों के वे गान।
सूँघ, चुनकर सखि ! सारे फूल,
सहज बिंध, बँध, निज सुख-दुख भूल;
सरस रचती हो ऐसा राग
धूल बन जाती है मधु मूल;
पिलादो ना, तब हे सुकुमारि !
इसी से थोड़े मधुमय गान;
कुसुम के खुले कटोरों से
करादो ना, कुछ कुछ मधुपान !

गीत

जीवन का श्रमताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्णों से
सूने जग-गृह-द्वार भरो, हे ! जी०

लौट गृह सब श्रांत चराचर,
नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से
विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो हे! जी०

उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन नत-नयन पद्म-दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि!
सुखद स्वप्न बनकर विचरो, हे! जी०

बंद तुम्हारे द्वार?

बंद तुम्हारे द्वार!
मुसकाती प्राची में ऊषा
ले किरणों का हार,
जागी सरसी में सरोजिनी,
सोई तुम इस बार?
बंद तुम्हारे द्वार?
नव मधु में अस्थिर मलयानिल,
भौंरों में गुंजार,
विहग-कंठ में गान,
और पुष्पों में सौरभ-भार,
बंद तुम्हारे द्वार?
प्राण! प्रतीक्षा में प्रकाश
औ, प्रेम बने प्रतिहार,
पथ दिखलाने को प्रकाश
तुमसे मिलने को प्यार,

बंद तुम्हारे द्वार,
गीत हर्ष के पंख मार
आकाश कर रहे पार,
भेद सकेगी नहीं हृदय
प्राणों की मर्म पुकार ?
बंद तुम्हारे द्वार ?
आज निछावर सुरभि,
खुला जग में मधु का भण्डार,
दबा सकोगी तुम्हीं आज
उर में जीवन का ज्वार ?
बंद तुम्हारे द्वार ?

× × ×

पुण्य प्रसू

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?—
निःस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को !
जीव प्रसू को ।
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को ।
कोमल
चंचल

शाद्वल
अंचल,—
कल कल
छल छल
चल-जल-निर्मल,—
कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—
जिसपर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद-तल !
देखो भूको,
स्वर्गिक भूको,
मानव पुण्य-प्रसू को !

---

[१४]

श्रीमती महादेवी वर्मा—श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक गीति काव्य की मीरा हैं। उनके गीतों में मीरा की भाँति ही विरह-कातर करुणा है, प्रियतम के अभाव में अनन्त रुदन है और इस रुदन में परम ज्योति की सुखद अनुभूति। यह अनुभूति ही उनके विरह में उल्लास की रेखा है, आत्म-परितोष की क्षितिज है। विरह निवेदन में उनकी करुणा सब से अधिक व्यापक और तीव्र है। उनके 'करुणा-कलित-हृदय' से विकल अश्रुओं की धारा टूट पड़ती है, जिससे उन्होंने न जाने कितनी रातों की कालिमा को धो डाला है। उनके अन्तःकरण में प्रकाश और अन्धकार का बवण्डर सा उठता है जिससे उनकी सन्तप्त आहें नभ के चमकीले तारों को भी झुलसा देती हैं—

नभ के धुँधले कर डाले
अपलक चमकीले तारे,
इन आहों पर तैरा कर
रजनीकर पार उतारे

और तब उनके हृदय से पिघल-पिघल कर विरह के गीले गान प्रस्फुटित हो जाते हैं। विरह की आह में अनजान कविता बहने लगती है। उनकी करुणातुर प्रार्थना कितनी नारी सुलभ है, कितनी सुकुमार है और घुला देने वाली आत्म-समर्पण की उसमें सीमा है। यह गीत बहुत ही मधुर और संगीतमय है,—

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने सन्देश
पथमें बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पग पखार !
हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर सञ्चित विराग,
आँखें देतीं सर्वस्व वार !

महादेवी जी का प्रियतम विश्व-व्यापक दिव्य सत्य है। अतएव उसकी अनुभूति में वे पार्थिव संसार से विरक्त हो भाव-जगत में पहुँच राग-विराग, द्वैत-अद्वैत की बाधा से मुक्त होकर उसी में एकाकार हो जाती हैं। उन्हें वेदना बहुत मधुर लगती है। जिसे वे अपने जीवन के दुलार-प्यार, आदर-सत्कार और सुख-सौरभ की प्रतिक्रिया मानती हैं। इस वेदना से वे मुक्त नहीं होना चाहतीं क्योंकि इसी में उन्हें चिरन्तन प्रिय की मधुर झाँकी मिलती है। और इस झांकी में ही वे उस पीड़ा को खोजती हैं,—

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो!
पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।

मीरा का विरह साकार 'गिरधरलाल' के लिए होते हुए भी विश्व-व्यापक है। मगर महादेवी का असीम, अनन्त, परम ज्योति के लिए होते हुए भी व्यक्तिगत है। प्रेम-साधना का दिव्य-आलोक उन्हें इसी में मिलता है। प्रियतम की झलक पाते ही वे तादात्म्य प्राप्त करलेती हैं। फिर परिचय की कोई आवश्यकता नहीं रहती,—

तुम मुझमें फिर, परिचय क्या
तारक में छवि, प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति;
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूं जग में संचय क्या?

प्रेयसि को प्रेमानुभूति प्राप्त कर लेने पर प्रियतम के बन्धनों में ही अपार सुख मिलता है। वह उनसे उन्मुक्त होना नहीं चाहती, और रसानुभूति में विभोर होकर गा उठती है,—

प्राण पिक, प्रिय नाम रे कह!
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में

वह गया बंध लघु-हृदय में;
अब विरह की रात को तू
चिर मिलन की प्रात रे कह!

भावनाओं में वे रहस्यवादी हैं, किन्तु उनका रहस्यवाद आध्यात्मिक है। इसी से उनके गीतों में सर्वत्र आत्म-भाव प्रधान है। महादेवी जी स्वयं कहती हैं,—"......गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।" अतएव हम उपरोक्त कथन के अनुकूल उनके गीतों में व्याकुल आत्माभिव्यक्ति और मनोराग की पूर्ण व्यंजना पाते हैं। उनकी करुणा सर्वोपरि है, जो उनके गीतों की विशेषता है। पर इस करुणा के असीम सागर में वे क्या हैं?—नीर भरी दुख की क्षणिक बदली,—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोना कोना
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

'नीहार' और 'रश्मि' में वेदना-प्रधान गीत हैं। उनमें प्रेम-साधना का आधार व्यक्ति और उसका अन्तःकरण ही है, किन्तु 'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' में प्रकृति के अंग अंग में विरह-व्यंजना मिलती है। 'नीहार' में उनकी आह बड़ी तीव्र है। वे चिरकाल से सन्तप्त होकर आह छोड़ रही हैं, मगर उस आह में एक भी शान्तिदायक गान न निकला,—

गए तब से कितने युग बीत
हुए कितने दीपक निर्माण;
नहीं पर मैंने पाया सीख
तुम्हारा सा मन मोहन गान!
नहीं अब गाया जाता देव!
थकी अँगुली हैं ढीले तार,
विश्व वीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार।

कितनी मर्म-वेदना है, कितनी विनयावनत करुणा है। जीवन के सूने पलों में वे विकल होकर गाने लगती हैं,—

अलि कैसे उनको पाऊँ ?
वे आँसू बन कर मेरे
इस कारण ढुल ढुल जाते
इन पलकों के बन्धन में
मैं बाँध बाँध पछताऊँ !

इस गीत में उनकी दशा का कितना मार्मिक चित्रण है। आँसू में, स्वप्न में, तारों में, सोते सागर की लहरों में सर्वत्र ही वे अपनी ज्योति की छटा छिटकाते हैं किन्तु संकोच से, लज्जा से उनके नेत्र नम जाते हैं। न वह उस परम-ज्योति को रोक ही पाती हैं और न उनके दर्शन ही कर पाती हैं। संगीत का इस गीत में मधुर प्रवाह है।

'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' में वेदना के साथ रहस्यमय आत्म-परितोष भी है। विरह की कातर-ध्वनि सुन कर महादेवी जी के प्रियतम उन्हें दर्शन देते हैं। उनकी अनुभूति में महादेवी जी स्वार्थ-पर ही नहीं रहतीं वे उनका ध्यान जग के आँसुओं और मुर्झाई कलियों की ओर भी आकर्षित करती हैं। विश्व-भर की पीड़ा से वे बेचैन हैं,—

मेरे हँसते अधर नहीं जग—
की आँसू-लड़ियाँ देखो !
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो !
हँस देता नव इन्द्र-धनुष की स्मित में घन मिटता मिटता;
रँग जाता है विश्व राग से निष्फल दिन ढलता ढलता;
कर जाता संसार सुरभि मय एक सुमन झरता झरता;
भर जाता आलोक तिमिर में लघु दीपक बुझता बुझता;
मिटने वालों की हे निष्ठुर !
बेसुध रंग रलियाँ देखो !

जग के दुख-सुख-का उन्हें पूरा ध्यान है, और उसके निवारण की भी चाह है। संसार में प्रत्येक वस्तु किसी अन्य के जीवन में दिव्य प्रकाश की मिटती मिटती रेख खींच कर लोप हो जाती है। कितना सुन्दर काल्पनिक चित्र है जिसमें सहानुभूति की उज्ज्वल रेखा है। केवल चित्रकार ही ऐसी व्यंजना कर सकते हैं। महादेवी जी उच्च कोटि की चित्रकार भी हैं। इसी कारण उनके काव्य में इतनी चित्रोपमता है। मधुर प्यार का वे कितना सुन्दर चित्र खींचती हैं,—

कमल दल पर, किरण अंकित
चित्र हूँ क्या मैं चितेरे ?
बादलों की प्यालियाँ भर चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्रधनु तुमने रंगा उर प्यार से;
काल के लघु अश्रु से
धुल जाएंगे क्या रंग मेरे ?

एक ओर काल रूपी करुणा के अविरल आँसू हैं और दूसरी ओर रंग रूपी सुख का स्थायित्व। कुशल चित्रकार ने इन्द्रधनुष की तूलिका से चित्र में प्यार का रंग भर दिया है। क्या कभी करुणा के आँसुओं से यह धुल सकता है ? विरह-माधुर्य की कितनी गहरी कल्पना है। साथ ही संगीत भी रंग की भाँति छलका पड़ता है। विरह के गीतों में निम्न गीत से तीव्र और क्या हो सकता है। विरह की व्यापकता की कोई सीमा नहीं,—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात;
जीवन विरह का जलजात।

शून्य मन्दिर में महादेवी जी प्रियतम की प्रतिमा बन गई हैं परोक्ष सत्ता को अपने लौकिक तत्त्व से उन्होंने साकार कर लिया है। उसकी पूजा-अर्चन का भी पूर्ण आयोजन है। दुख पुजारी है और दृग-जल अर्घ्य। पूजा से सूना विश्व भी गुंजार उठता है,—

नूपुरों का मूक छूना,
सरव करदे विश्व सूना,
यह अगम आकाश उतरे कम्पनों का हो भिखारी !
शून्य मन्दिर में बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !

इस गीत में माधुरी और संगीत के साथ भावना भी बहुत कोमल है। शब्दों का चयन सुन्दर और भाव सरल है। प्रियतम की स्मृति में वियोग-दुख बढ़ चला, नयनों से आँसुओं की बरसात बरसने लगी। इस भावना को महादेवी जी ने नीचे के गीत में कितनी अनुपमता और सुकुमारता के साथ व्यंजित किया है। वियोगिनी की दशा का उसमें करुण चित्रण है,—

प्राण रमा-पतझार सजनि अब नयन बसी बरसात री !
वह प्रिय दूर पंथ अनदेखा,
श्वास मिटाते स्मृति की रेखा;
पथ बिन अंत, पथिक छायामय,
साथ कुहुकनी रात री !

विरह निवेदन में माधुर्य की भावना रात्रि का प्रतीक पाकर आनन्द का संगीत झंकृत कर देती है। रात्रि का रूप-चित्रण कितना कौशल-पूर्ण है, कितना मनोमुग्धकारी है, कितना वैभवपूर्ण है,—

ओ विभावरी !
चाँदनी का अंगराग,
मांग में सजा पराग,
रश्मि-तार गूँथ मृदुल
चिकुर भार री !
अनिल घूम देश देश,
लाया प्रिय का सन्देश,
मोतियों के सुमन-कोष
मृदुल वार री !

प्रियतम के अभिसार में प्रियतमा ने अनुपम शृंगार किया ! शशि के दर्पण में देख देख तिमिर-केशों को सँवार कर उनमें तारिकाओं के पुष्पों को गूंथा, किन्तु फिर भी नाथ न रीझ पाये। कल्पना की सुमधुर उड़ान में रूप-चित्रण की विशदता देखिये,—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं।
शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाए तिमिर-केश

गूंथे चुन तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष
क्यों आज रिझाया उसको
मेरा अभिनव शृंगार नहीं !

इस प्रकार महादेवी जी के गीत प्रगीतत्त्व से तो पूर्ण हैं ही, उनमें काव्य-कला का भी मनोहर सौष्ठव है। उनमें चिर-अनन्त का प्रतिबिम्ब है, और प्रकृति का सरल भाव-चित्रण। पन्त जी ने जहाँ हमारी भाषा को मृदु-लता दी और माधुर्य दिया वहाँ सुकुमार भावनाओं को महादेवी जी ने ही सजग किया। अनुभूति की गहराई में उनकी कल्पना बड़ी ऊँची है। प्रसाद जी मुख्यकर सौन्दर्योपासक हैं किन्तु महादेवी जी सर्वत्र करुणापूर्ण। यह ठीक है कि निराला जी भाव-भूमि में उनसे बहुत ऊंचे हैं और संगीत, रस, काव्य-कला आदि में सवत्र ही उनसे कहीं उत्तम हैं। महादेवी जी अपने क्षेत्र में—करुणा पूर्ण नारी-सुलभ हृदय की स्वाभाविक प्रेमाभिव्यक्ति में अतु-लनीय हैं। उनके गीतों की भाषा में संस्कृत-शब्दों का बाहुल्य होते हुए भी प्रसाद गुण की प्रचुरता है। महादेवी जी के गीत लोक-प्रिय और साहित्य की निधि हैं। उनकी अपनी शैली है, अपनी प्रवृत्ति है, मगर वह निराला जी की भाँति उन्हीं में सीमित नहीं। उनका सार्वलौकिक अनुकरण किया जा रहा है।

कमल दल पर किरण अंकित
चित्र हूँ मैं क्या चितेरे ?
बादलों की प्यालियाँ भर चाँदनी के सार से,
तूलिका कर इन्द्र धनु तुमने रँगा उर प्यार से;
काल के लघु अश्रु से
धुल जाँयगे क्या रङ्ग मेरे ?
तड़ित सुधि में वेदना में करुण पावस रात भी;
आँक स्वप्नों में दिया तुमने वसन्त प्रभात भी;
क्या शिरीष-प्रसून से
कुम्हलायेंगे ये साज मेरे ?
है युगों का मूक परिचय देश से इस राह से;
हो गई सुरभित यहाँ की रेणु मेरी चाह से;
नाश के निश्वास से
मिट पायेंगे क्या चिह्न मेरे ?
नाच उठते निमिष पल मेरे चरण की चाप से,
नाप ली निःसीमता मैंने दृगों के माप से;
मृत्यु के उर में समा क्या
पायँगे अब प्राण मेरे ?
आँक दी जग के हृदय में अमिट मेरी प्यास क्यों ?
अश्रुमय अवसाद क्यों यह पुलक-कम्पन-लास क्यों ?
मैं मिटूँगी क्या
अमर हो जायँगे उपहार मेरे ?

विरह का जल जात जीवन, विरह का जल जात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात;
जीवन विरह का जलजात !

आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल;
तरल जल कण से बने घन सा क्षणिक मृदुगात !
जीवन विरह का जलजात !
अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहाँ मधुमास,
अश्रु ही की हाट बन आती करुण बरसात !
जीवन विरह का जलजात !
काल इनको दे गया पल-आँसुओं का हार;
पूछता इसकी कथा निश्वास ही में वात !
जीवन विरह का जलजात !
जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज;
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात !
जीवन विरह का जलजात !

शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !
अर्चना हों शूल भोले,
क्षार दृग-जल अर्घ्य होले,
आज करुणा-स्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी !
नूपुरों का मूक छूना,
सरव करदे विश्व सूना,
यह अगम आकाश उतरे कम्पनों का हो भिखारी !
लोल तारक भी अचंचल,
चल न मेरा एक कुन्तल,
अचल रोमों में समाई मुग्ध हो गति आज सारी !
राग मद की दूर लाली,
साध भी उसमें न पाली,
शून्य चितवन में बनेगी मूक हो गाथा तुम्हारी !

प्राण-रमा पतझर सजनि अब नयन बसी बरसात री !

वह प्रिय दूर पन्थ अनदेखा,
श्वास मिटाते स्मृति की रेखा,
पथ बिन अन्त, पथिक छायामय,
साथ कुहुकिनी रात री !

संकेतों में पल्लव बोले,
मृदु कलियों ने आँसू तोले,
असमंजस में डूब गया
आया हँसता जो प्रात री !

नभ पर दुख की छाया नीली,
तारों की पलकें हैं गीली,
रोते मुझपर मेघ
आह रूंधे फिरता है वात री !

लघु पुल युग का भार सम्भाले,
अब इतिहास बने हैं छाले,
स्पन्दन शब्द व्यथा की पाती
दूत नयन जल जात री !

ओ विभावरी !
चाँदनी का अंगराग,
माँग में सजा पराग,
रश्मि-तार गूँथ मृदुल
चिकुर भार री !

अनिल घूम देशदेश,
लाया प्रिय का सन्देश,
मोतियों के सुमन-कोष
विपुल वार री !

लेकर मृदु ऊर्म्मिवीन,
कुछ मधुर करुण नवीन,
प्रिय की पद चाप-मदिर
गा मलार री !
बहने दे तिमिर भार,
बुझने दे यह अँगार,
पहिन सुरभि का दुकूल
बकुल-हार री !

क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस विशाल का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे !
अक्षत पुलकित रोम, मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव अपल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते जाते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे !

---

[१५]

श्री रामकुमार वर्मा—रहस्यवादी कवियों में रामकुमार जी का उच्च स्थान है। अध्ययन, चिन्तन, कल्पना और अनुभूति से इनका रहस्यवाद विशुद्ध स्वरूप पा गया है। न उसमें दार्शनिकता की गहनता है और न प्रेम-विरह की सन्तप्त वेदना ही। किन्तु करुणा की छाया क्षण भंगुरता की अनुभूति से करुणतर होती चली गई है। यही इनके रहस्यवाद का आधार है। कुमार जी में प्रेम की गहरी अनुभूति नहीं, किन्तु रूप-सौन्दर्य की कल्पना बहुत ऊँची

है। प्रकृति में आपकी अन्तर्दृष्टि बहुत सूक्ष्म है। कवि संसार को आनन्द और उल्लास में लिप्त देख क्षण भर के लिए स्वयं भी उस आह्लाद का अनुभव करता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसका नश्वर-चित्र सामने आते ही विषाद से भर जाता है, तब उसका हृदय फूट फूट कर रोता है। उस विलाप में फिर उसे अज्ञात देव की ज्योति के दर्शन होते हैं, जो विश्व के कण कण में व्याप्त है। पार्थिव सौन्दर्य में उसे परोक्ष-सौदर्न्य के दर्शन होते हैं। कुमार और महादेवी में बहुत कुछ साम्य है। पर कुमार जी की करुणा सौन्दर्यानुभूति में सजग होती है और महादेवी जी का सौन्दर्य विरह-वेदना की करुणा में। इस करुणा की मधुरतम अनुभूति में ही उनको प्रियतम के दर्शन होते हैं, जिससे यह पीड़ा उन्हें बहुत प्रिय है।

कुमार जी में विशेषकर दो प्रकार की भावनाएं मिलती हैं—प्रकृति के रूप-सौन्दर्य से उद्दीप्त असार-संसार की क्षण-भंगुरता में करुणा और निराशा की भावना तथा अज्ञात के चिन्तन और रहस्यानुभूति में आत्मानन्द की भावना। एक ओर कवि कल्पना करता है कि सम्पूर्ण प्रकृति फूल सी है जिसमें सुकुमारता है, सौन्दर्य है और अनन्त चाह है वह अपनी सौन्दर्य-कल्पना को पुष्ट करता है। तब उसमें चिन्तन का उदय होता है और वह 'किन्तु दो दिन के सुमन से कौन सी यह प्रीति पाली' कहकर उसकी क्षण-भंगुरता का ध्यान आते ही ठिठक जाता है। पर वह जिज्ञासु की भाँति उसके क्षणभंगुर रूप में ही जग-सौन्दर्य की दीप्ति और शान्ति को खोजता है। जैसे ही उसे इसका आभास मिलता है कि निराशा दूर हो जाती है और वह आनन्द-मग्न होकर गा उठता है,—

> तुम सजीली हो, सजाती हो सुहासिनी ये लताएँ,
> क्यों न कोकिल-कण्ठ मधु-ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ,
> आज मैंने वह छटा अपने हृदय के बीच पाली।
> फूल सी हो फूलवाली।

उनको सृष्टि के कण-कण में सचेतन सौन्दर्य के दर्शन होते हैं और यही उनके अज्ञात देव का स्वरूप है जो 'चित्ररेखा' में स्पष्ट झलकता है।

नभ के तारों को देख कर उनकी कल्पना देव के विविध-रूपों की कितनी सुन्दर व्यंजना करती है,—

तारे नभ में अंकुरित हुए।
जिस भाँति तुम्हारे विविध रूप
मेरे मन में संचरित हुए।

और इस अनुभूति से उसके दैन्य-दुख सब नष्ट हो जाते हैं,—

देखो इतना है लघु विकास,
मेरे जीवन के आस पास।
पर सघन अँधेरे के समान ही
दूर दैन्य दुख दुरित हुए॥

'रहस्यवाद के क्षेत्र में ये अपनी भावना की अभिव्यक्ति का प्रधान आधार प्रकृति के दैवी चित्र को ही मानते हैं।' प्रकृति में भी उन्हें सुकुमार व्यंजना अधिक प्रिय है—कोकिल का कोमल स्वर, उपवन की बाला, हँसता हुआ फूल और जगमगाते तारे इत्यादि।

रामकुमार जी कवि तो हैं ही, साथ ही सफल एकांकी नाटककार भी हैं। उनके काव्य को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—वर्णनात्मक ऐतिहासिक रचनाएँ जैसे 'शुजा' और 'नूरजहाँ'; मुक्तक रचनाएँ और गीति-काव्यात्मक रचनाएँ। उनका गीति-कवि रहस्यवादी कवि के सामने बहुत कुछ संकुचनशील है। अतएव उनके काव्य में विशेष कर रहस्यवादी मुक्तक रचनाएँ ही मिलती हैं।

कुमार जी के गीत भावपूर्ण हैं, संक्षिप्त हैं और संगीतमय हैं। तन्मयता, आत्मसमर्पण और आत्माभिव्यक्ति उनके गीतों में पद-पद पर मिलती हैं। हृदय-ग्राही भावाभिव्यक्ति और उच्च कल्पना होने के साथ भाषा भी सरल और प्रवाह पूर्ण है। जिससे उनके गीत विशेष मधुर और प्रभावशाली हो गए हैं। आत्म-निवेदन का यह गीत संगीत और माधुर्य से ओत-प्रोत है,—

आओ मेरे सुन्दर वन में
मैं कलिका हूँ, खिल जाऊँगी
अभी तुम्हारे मृदु गुंजन में ॥ आओ०

देव-दर्शन के लिए वे न जाने कब से लालायित हैं। आज चिरन्तन के प्रेम-मिलन की बात स्वप्न-वत हो गई है। इस अनुभूति में उन्होंने अपने अन्तःकरण की कितनी मधुर व्यंजना की है,—

देव मैं अब भी हूँ अज्ञात ?
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात।
तुमसे परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख सीख कर मेरी
आयु बन गई क्रूर !!
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ॥देव०

कुमार जी प्रकृति-प्रिय होते हुए भी अपनी भावनाओं में प्रकृति के रूप-चित्रण को न निभा सके। कारण कि जैसे ही वे प्रकृति के रूप की व्यंजना करते हैं, तैसे ही रहस्य के चिन्तन में वे दूसरी ओर बह जाते हैं और प्रकृति गौण पड़कर रहस्यमयी भावना प्रधान हो जाती है। जैसे 'करुणा की आई छाया' नामक गीत में—'कोकिल ने कोमल स्वर भर कुञ्जों कुञ्जों में गाया'—से एक चित्र उपस्थित होता है किन्तु आगे बढ़ते ही रहस्यवादी कवि 'जब विश्व व्यथित था तुमने अपना सन्देश सुनाया' कहकर चित्र की वहीं समाप्ति कर देता है, और अनुभूति का प्रदर्शन करने लगता है। भाषा माधुर्य में यह गीत कितना चलता है,—

मेरे उपवन के अधरों में
है वसन्त की मृदु मुस्कान।
मलय समीरण पीकर कोकिल,
गा जीवन का मधुमय गान ॥

संसार की नश्वरता की पुराने फूल के विनाश में कितनी स्पष्ट और

मार्मिक व्यंजना की है,—

आह यह पल्लव पुराना,
वायु झोंके में भटकने को उसे है आज जाना ॥

*   *   *

पीत अवगुण्ठन खुलेगा
आज कलिका के वदन का;
उस समय तुझको पड़ेगा मृत्यु का चिर पथ सजाना ॥

सन्ध्या का समय है। सूर्य अस्त हो चुका है किन्तु उसकी भागती हुई ज्योतिर्मयी रश्मियों से फटे से बादल रागानुरंजित होकर वसुन्धरा पर अपनी अलौकिक आभा फेंक रहे हैं। जगती के दुख-सन्ताप से विकल कवि इस दिव्य वैभव को देखकर सिहर उठता है। इस आभा में उसे विश्व के कण-कण में व्याप्त विभूति के दर्शन हो जाते हैं। एक ओर भूमि में महा कष्ट है, रुदन है और दूसरी ओर आह्लादकारी दिव्य-विभूति के दर्शन। इस भावना को कुमार जी ने इस गीत में कितनी सूक्ष्मता से रक्खा है,—

यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे से बादलों में, कौन सा मधुमास आया ?

*   *   *

आह वह कोकिल न जाने—
क्यों हृदय को चीर रोयी ?
एक प्रतिध्वनि सी हृदय में,
क्षीण हो हो हाय ! सोयी !
किन्तु, इससे आज मैं—कितने तुम्हारे पास आया ?
यह तुम्हारा हास आया।

'ये गजरे तारों वाले'—उनका एक बहुत ही सुन्दर गीत है। भाव की पूर्णता में, कल्पना की उड़ान में, रूप-चित्रण में, सुकुमारता में और अन्तिम प्रभाव की गहराई में यह गीत मुझे सर्वोत्तम लगता है। भावना का समाधान कवि ने बड़े सहानुभूति-शील कौशल से किया है। भावना सौन्दर्य

को लेकर उठती है, हृदय को छूती हुई करुणा के अनन्त-सागर में विलीन हो जाती है। भाव का समतुल्य निर्वाह और एकरूपता अन्य गीतों में इतनी उत्कृष्ट न मिलेगी। कवि जगमगाते तारों से प्रभावित हुआ है। वह 'रजनी बाले' को उनसे सजा-बजा देख कितनी सुन्दर कल्पना करता है,—

इस सोते संसार बीच
जगकर सजकर रजनी-बाले!
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले?

और फिर अन्त में निराश होने पर,—

यदि प्रभात तक कोई आकर
तुमसे हाय! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में,
बिखरा देना सब गजरे॥

ऐसा ही सौन्दर्य युक्त संगीतमय गीत 'आज केतकी फूली' वाला है। कल्पना में भाव उठता है और अनुभूति में समाप्त हो जाता है। भावों की अभिनयात्मक व्यंजना से उनके गीत और भी मनोहर हो गए हैं। कुमार जी के गीत महादेवी-स्कूल के ही हैं। जीवन की करुण-अभिव्यक्ति में दोनों के निराश आँसू बहते हैं, किन्तु आत्माभिव्यक्ति और भावों की अनेक-रूपता में महादेवी जी का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

आओ मेरे सुन्दर वन में।
मैं कलिका हूँ, खिल जाऊँगी
अभी तुम्हारे मृदु गुञ्जन में॥ आओ०॥
उषा लिए है कितनी ज्वाला!
भू पर है ओसों की माला;
इन दोनों की छाया है—
मेरे नव विकसित कोमल तन में॥ आओ०॥

रूप-गंध का पीकर प्याला,
भूल रही है तितली-बाला,
मैं तो लीन हो रही हूँ—
अमलीन तुम्हारे अभिनन्दन में।
आओ, मेरे सुन्दर वन में॥

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात?
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात॥
तुमसे परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर!
बढ़ना सीख-सीख कर मेरी
आयु बन गई क्रूर!!
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात॥ देव मैं०
यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमंग,
आत्मा सी बनकर छूती है
मेरे व्याकुल अंग।
आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात॥देव मैं०

आज केतकी फूली!
नभ के उज्ज्वल तारों से ही—
निर्मित जग में फूली।
आज केतकी फूली!
अंतरिक्ष का बिखरा वैभव पृथ्वी में संचित है,
इसीलिए यह कलिका नभ-छवि ले, भू पर कुसुमित है;
पवन चूम जाता है, मेरी इच्छा से परिचित है,
इस मिलाप में ही सारे जीवन का सुख अंकित है।

मैंने आज प्रेम की उँगली से
वह चिर छवि छू ली ॥
आज केतकी फूली ।

*   *   *

करुणा की आई छाया ।
कोकिल ने कोमल स्वर भर कुञ्जों-कुञ्जों में गाया ॥
जब विश्व व्यथित था, तुमने अपना सन्देश सुनाया ।
तरु के सूखे से तन में नव जीवन बनकर आया ॥
मेरी साँसों पर जीवन कितनी ही बार झुलाया ।
पर इतने रूपों में भी क्या मैंने तुमको पाया ?
यह जीवन तो छाया है केवल सुख-दुख की छाया;
मुझको निर्मित कर तुमने आँसू का रूप बनाया ।
करुणा की आई छाया ॥

*   *   *

फूल सी हो फूल वाली ।
किस सुमन की साँस तुमने आज अनजाने चुराली ?
जब प्रभा की रेख दिनकर ने गगन के बीच खींची,
तब तुम्हीं ने प्रेम रस से वाटिका यह सरस सींची,
किन्तु दो दिन के सुमन से कौन सी यह प्रीतिपाली ?
क्या तुम्हारे रूप में जग-शान्ति आकर है छिपी सी,
दीप्ति जग सौन्दर्य की क्या नेत्र में आकर दिपी सी ?
कर रही स्वागत कली ले रूप की अनुराग लाली ।
तुम सजीली हो, सजाती हो सुहासिनी ये लताएँ,
क्यों न कोकिल-कण्ठ मधु-ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ,
आज मैंने वह छटा अपने हृदय के बीच पाली ।
फूल सी हो फूल वाली ॥

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच जग कर, सजकर रजनी-बाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो, ये गजरे तारों वाले ?

मोल करेगा कौन ? सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी;
मत कुम्हलाने दो, सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी,

निर्झर के निर्मल जल में ये गजरे हिला हिला धोना;
लहर लहर कर यदि चूमे तो, किंचित विचलित मत होना।

होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित, लहरों ही में लहराना;
'लो मेरे तारों के गजरे निर्झर स्वर में यह गाना।

यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय ! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में, बिखरा देना सब गजरे।

---

[१६]

श्री भगवती चरण वर्मा—श्री वर्मा जी भावुक कवि, प्रसिद्ध उपन्यासकार और सफल कहानी लेखक हैं। आपके उपन्यास 'तीन वर्ष' और कहानी संग्रह 'इन्स्टालमेंट' का हिन्दी-जगत में अच्छा स्वागत हुआ है। वर्मा जी के काव्य-विषय विशेषकर रहस्यवाद, प्रेम और मानव हैं। 'मधुकण' में आप एक दार्शनिक रहस्यवादी हैं। जिसका निराशा और करुणा ही परिणाम है। कवि भावुक है किन्तु गम्भीर विचारों के साथ। 'प्रेम-संगीत' वर्मा जी के प्रेम-गीतों का संग्रह है। जिसमें भौतिक प्रेम की अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी रहस्यमयी 'प्रिया' के द्वारा की है। उन्मत्त-प्रेमी के ये गान गीति-काव्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी मौलिकता प्रेम-प्रकम्पित हृदय की विह्वलता और भावावेश में है, विचारों की गम्भीरता में नहीं। कवि के ही शब्दों में, "प्रेम-संगीत भावना प्रधान है। उसकी कविताओं में बेसुध तन्मयता है और भावों की क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ सम्भाव से प्रदर्शित हैं। वह

एक भावनाओं का और केवल भावनाओं का अनुभव है, जहाँ बुद्धि का संयम तथा तर्क की प्रखरता नहीं मिलेगी; उसमें कल्पना की मादकता-भर है।" और इस कथन की उसमें पूर्ण क्षमता भी है। तीसरे काव्य-ग्रन्थ 'मानव' में वर्मा जी ने मनुष्य की भौतिक उच्छृङ्खलता का, असत्य और अहं का भैरव चित्रण किया है। मानव अपनी सांसारिक प्रतिक्रिया में जितना भी नृशंस है, विनाशकारी है और अशक्त है; संसृति-सागर में उसकी क्या स्थिति है, क्या मूल्य है; और प्रकृति के अन्य पदार्थों में उसका क्या महत्त्व है—आदि का नग्न चित्रण किया है। कवि की वाणी में एक ओज है, एक चिनगारी है, एक ज्वाला है जो मानव के उस अहं को भस्म कर उसमें आत्म-ज्ञान का प्रकाश करना चाहती है।

गीति-काव्य की दृष्टि से 'प्रेम-संगीत' ही अधिक महत्त्व पूर्ण है। यद्यपि उसके गीत प्रगीतत्त्व के अनुकूल संक्षिप्त नहीं तथापि उनमें भावों की एक रूपता है। सम्पूर्ण गीत कुछ पदों से मिलकर बनता है। किन्तु प्रत्येक पद अपने भाव में पूर्ण है। साथ ही उसका लगाओ अगले-पिछले पदों से भी है। उनकी शैली स्पष्ट और मनोहर है। भाषा कहीं भी क्लिष्ट नहीं। संगीत का उनमें मधुर प्रवाह है। किन्तु उनकी विशेषता है प्रेम के व्यापारों की सरल अभिव्यक्ति। वर्मा जी प्रेम को संसार का एक आकर्षण मानते हैं और आनन्दोल्लास का एक महान श्रोत। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्रेम का एक दर्पण है, जिसमें उसके राग-विराग, सुख-दुख, उत्थान-पतन और आशा-निराशा आदि की भावनाएँ साफ़-साफ़ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। जीवन की सभी पहेलियों को सुलझाने के लिए मानव के पास प्रेमोन्माद है, जिसमें हर रंग है, हर पहलू है, हर चाह है। और अन्त में विरक्ति भी—

आए बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी;
सब कहते ही रह गए, अरे
तुम कैसे आए, कहाँ चले ?

आपके प्रेम में उन्मत्त वेग है, हृदय की बेचैनी है। प्रेम-संगीत की

भूमिका में डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी कहते हैं, "वर्मा जी के प्रेम-सम्बन्धी विचार भी अपना दृष्टि कोण रखते हैं। फ़ारसी-उर्दू की इश्क़-सम्बन्धी विचार धारा से आपकी कल्पना प्रभावित है और उसमें सूफ़िक और नवीन वेदान्त की पुट है, जिससे उसमें एक विशेष चमक पैदा हो गई है यद्यपि प्रेम को और क्षण भंगुर समझते हैं, तथापि उसे मोहक, मादक और लोकोत्तरानन्द-दायक अनुभव करते हैं।" अपनी प्रिया की मधुर कल्पना से कवि का रोम रोम प्रेम-पुलकित होकर सिहर उठता है। वे कहते हैं,—

> आज हृदय में खिंच आई हो
> तुम असीम उन्माद लिए;
> जबकि मिट रहा था मैं तिल-तिल
> सीमा का अपवाद लिए!

उसके आते ही प्रेम ज्ञान के बन्धनों से उन्मुक्त होकर विश्वभर को आनन्दित कर देता है। तब वे मिलन में लय हो जाने की कितनी आसक्तिपूर्ण कल्पना करते हैं,—

> हम तुम अपने में लय कर लें!
> उल्लास और सुख की नदियाँ,
> बस इतना इनका मोल प्रिये!

क्योंकि—

> मुरझाना है आओ खिल लें,
> हम तुम जीभर खुलकर मिललें।

इस कल्पना में भी कवि संसार से अलग नहीं हो जाता। वह जीवन के सुख-दुख में लिप्त है। उसकी अभिलाषा है कि जब वह संसार के बीच सुख-दुख की कहानी कहे तो उसकी प्रिया अमर सन्देश बनकर कौतूहल सी मुसका दे और फिर,—

> थोड़ा साहस! इतना कह दो—
> तुम प्रेम-लोक की रानी हो!

जीवन के मौन रहस्यों की
तुम सुलझी हुई कहानी हो !

प्रिया की अनुभूति में कवि कुछ चिन्तन-शील हो जाता है। उसे संसार के बीच अपनी लघुता का ज्ञान होता है। तब वह अपनी पीड़ा को ही देख पाता है। वह व्याकुल होकर गा उठता है,—

सुख की तन्मयता तुम्हें मिली,
पीड़ा का मिला प्रमाद मुझे !
फिर एक कसक बनकर अब क्यों
तुम कर लेती हो याद मुझे ?

वह एकाकी है, उसका संसार एकाकी है—केवल प्रिया के अभाव में। पथ अगम है और वह निर्बल है। उसके सन्तप्त हृदय से प्रकृति में मिलकर उसकी भावना कितनी दयनीय है,—

शशि एकाकी मिटता रहता,
रवि एकाकी जलता रहता,
मरु एकाकी आहें भरता,
हिम एकाकी गलता रहता;
कोयल एकाकी रो देती,
कलि एकाकी मुरझा जाती,
एकाकी में बनने का,
मिटने का क्रम चलता रहता !
एकाकीपन ही अपनापन,
मैं अपने से मजबूर प्रिये !
उर शंकित है, पग डगमग हैं,
तुम होती जातीं दूर प्रिये !

और वह एकाकी होकर विभ्रान्त मन से कह उठता है,—

हाँ, प्रेम किया है, प्रेम किया है मैंने,
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने;

तब उसके वियोग का एक एक पहर संसृति का युग बन जाता है। कवि एकाकी है किन्तु फिर भी उसके उर में अनन्त वैभव है। वह अब सीमा के बन्धन तोड़कर जीवन-सागर में उन्मुक्त तैर रहा है। क्योंकि जीवन में गति है और गति में जीवन,—

मैं बढ़ता जाता हूँ प्रतिपल,
गति है नीचे गति है ऊपर;
भ्रमती ही रहती है पृथ्वी,
भ्रमता ही रहता है अम्बर
इस भ्रममें भ्रमकर ही भ्रमके
जग में मैंने पाया तुमको
जग नश्वर है, तुम नश्वर हो,
बस मैं हूँ केवल एक अमर !

अन्त में वह इस जीवन की प्रेम भरी पहेली को कितनी सुन्दरता से हल कर देता है—और वह हल है विरक्ति—अनन्त प्रस्थान,—

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले;
मस्ती का आलम साथ चला;
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;
आए बनकर उल्लास अभी
आँसू बनकर बह चले अभी;
सब कहते ही रहगए, अरे
तुम कैसे आए, कहाँ चले ?

'प्रेम-संगीत' के गीतों में निम्न गीत बहुत लोकप्रिय है। उसकी भावना में सुकुमारता है, प्रवाह में अनन्त माधुर्य, गति में प्रकम्पन और सबसे अधिक प्रेम के रंगीन वातावरण का आह्लादकारी सजीव चित्रण है। 'उन्माद रंगिनी' की टेक आते ही मन भावावेश से ओत-प्रोत हो जाता है। प्रिया और प्रेम की भावना साकार होकर मन में रम जाती है। सम्पूर्ण गीत भावना में

अधिकाधिक सुकुमार और हृदय-ग्राहक होता जाता है। कल्पना, भाव-चित्रण और काव्य-कला में वह उत्कृष्ट है—

तुम लुटाती आ रही हो
कौन-सा उन्माद रंगिनि ?

आज बन्धन बन रहा है
प्यार का उपहार रंगिनि।
अलस नयनों में लिये हो
किस विजय का भार रंगिनि ?

इस प्रेम-क्षेत्र से निकल कर वर्मा जी ने कुछ प्रगतिशील कविताएँ भी रची हैं। उनमें 'मानव' गीत उनका बहुत मार्मिक है। उसमें मानव के प्रति हुंकार है। उसका नग्न चित्रण है। भावावेश से उसमें ओज आ गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु को विभूति का वरदान मिला है किन्तु अभागे मानव को अपने अहं का अभिशाप। संसार का प्रत्येक कार्य शान्ति के साथ चल रहा है। मगर हम मिट्टी के पुतलों को वैभव का भार मिलते ही अहं दबा लेता है। और उस कौतूहल में,—

जल उठी अहम की ज्वाल वहीं
जब कौतूहल-सा प्राण मिला,
हम महानाश लेते आए
जब हाथों को निर्माण मिला;

देवत्व के बदले हमें पशुता मिली। हमारे आतंक से विश्वभर काँप उठा। किन्तु फिर भी हमारी क्या सत्ता है ? वैभव से भरा विश्व भिखमंगों का अभिशाप है। केवल मुट्ठी भर अन्न पर मनुष्य ने अपनी मर्यादा को गिरा दिया। न आत्म सम्मान रहा न गौरव। यह भावना वर्ड्सवर्थ के 'What man has made of man' से मिलती जुलती है। कवि भी स्वयं इससे बहुत दुखी ज्ञात होता है। मानव ने अपनी रक्षा के लिए कितना स्थायी प्रबन्ध कर रक्खा है, किन्तु वह अपने ही भार से विनाश की ओर बढ़ रहा है। उसमें अनेक महत्त्वाकाक्षाएँ हैं। किन्तु,—

अभिलाषाओं की सुबह यहाँ,
असफलताओं की शाम यहाँ !

मनुष्य अपने सुख की प्रतिच्छाया में संसार को सुखी न बना सका। वह ज्ञानी होकर भी अपने आपको न समझ पाया। जीवन के तत्त्व की उसने जिज्ञासा की किन्तु वह उस प्रेम-तत्त्व को न पहचान सका,—

तू दया त्याग का मूल अरे
अब तक न यहाँ अनुमान सका !
तू अपनी मानवता को
अब तक है मानव पा न सका !

वर्मा जी के गीतों में तन्मयकारी भावावेश है। और इस भावावेश में ही उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की है। इसी में उन्हें अपार आनन्द मिलता है। महादेवी जी की विरह-वेदना तीव्र, अनुभूति गहरी और कल्पना प्रखर है पर वर्मा जी में भावुकता प्रमुख है। 'कुमार' जी को सृष्टि के सौन्दर्य में ही क्षण-भंगुर भावना से निराशा और अज्ञात देव की अनुभूति होती है, किन्तु वर्मा जी को प्रेम में ही सब कुछ मिलता है,—पीड़ा भी सौन्दर्य भी और जीवन भी। इसी पीड़ा को उन्होंने यथार्थ रूप देकर प्रगतिशील गीतों की भी रचना की है। प्रगतिशील भावनाओं में वे अग्रणी हैं।

तुम लुटाती आ रही हो
कौन सा उन्माद रंगिनि ?
आज मानस के विकम्पित
मौन से उन्मत्त मंथन;
आज ढीले पड़ रहे हैं
ज्ञान के विकराल बंधन;
आज सपनों की अवलियाँ
आँसुओं के तार में बिंध

प्रेम की जयमाल बनकर
रच रहीं सुकुमार सिहरन !
तुम जगाती आ रही हो
किस मिलन की याद रंगिनि ?
तुम लुटाती आ रही हो
कौन-सा उन्माद रंगिनि ?

—२—

तुम बिछाती चल रही हो
कौन-सा छवि-जाल रंगिनि ?
चपल गति से लिपट सौरभ
कर रहा है बिसुध नर्तन;
नूपुरों के स्वरों में
संगीत करता चरण-चुम्बन;
अरुण पदतल के प्रभा की
रश्मियों के तार शत-शत
बुन रहे हैं भावना से
युक्त शाश्वत, मुग्ध यौवन !
कल्पना के सूत्र में हैं
बँध रहे दिशि-काल रंगिनि !
तुम बिछाती चल रही हो
कौन-सा छवि-जाल रंगिनि ?

—३—

रच रहीं पद-चाप में तुम
किस प्रणय के गीत रंगिनि ?
एक पद में सिहर उठती
सुप्त युग-युग की कहानी;

एक पद में विहंस उठती
सृष्टि की धुंधली निशानी;
एक पद में प्रकृति कोमल
एक में तुम केलिमय रति;
आज सहसा जग पड़ा है
पुरुष पावन, मदन मानी !

अलस नयनों में लिये हो
किस विजय का भार रंगिनि ?

झुक पड़ी मधु से विकल
पुलकित कलीने आँख खोली
झुक पड़ी भूली हुई-सी
आज पागल मधुप टोली;
झुक पड़ी कोमल झुकी-सी
आम्र डाली पर कुहुक कर;
और सौरभ-भारसे झुक
कर मलय-बातास डोली !

आज बंधन बन रहा है
प्यार का उपहार रंगिनि !
अलस नयनों में लिये हो
किस विजय का भार रंगिनि ?

* * *

यह तनमयता की बेला है,
यह है संयोग की रात प्रिये !
अधरों से कहलें आज अधर
जी भरकर अपनी बात प्रिये !

सुख से सुरभित इन श्वासों में
कितना मधुमय उच्छ्वास भरा !

इन अलस अधखुली आँखों में
कितना मादक उल्लास भरा !
प्राणों का होगा आज मिलन,
कम्पित हैं पुलकित गात प्रिये !
तुम सम्मोहिनि, मैं विसुध स्वप्न,
यह है संयोग की रात प्रिये।

—२—

है हमें बहाने को आई
यह रस की एक हिलोर प्रिये !
शाश्वत असीम में चलना है
निज सीमा के उस ओर प्रिये !
—उस ओर, जहाँ उन्मत्त प्रणय
है लोक-लाज को छोड़ चुका;
—उस ओर, जहाँ स्वच्छन्द समय
सुध-बुध के बन्धन तोड़ चुका !
यह पल असीम, यह पल अखण्ड,
इस पल का ओर-न-छोर प्रिये !
तुम चंचल गति, मैं हूँ प्रसाद,
यह रसकी एक हिलोर प्रिये !

—३—

तुम आदि-प्रकृति, मैं आदि पुरुष,
निशि-बेला शून्य अथाह प्रिये !
तुम रतिरत, मैं मनसिज सकाम,
यह अन्धकार है चाह प्रिये !
हम-तुम मिल करके चलो सृजें
सुखका अपना संसार यहाँ;

क्रीड़ा के शत-शत रंगों में
हो अपना ही अभिसार यहाँ !
ढक ले पृथ्वी, ढक ले अम्बर
जीवन का मुक्त प्रवाह प्रिये !
तुम अक्षय छवि, मैं अमिट साध,
यह अन्धकार है चाह प्रिये !

—४—

प्रतिपल धुँधला पड़ रहा यहाँ
पर आगत और अतीत प्रिये !
कर रहा विमोहित आज हमें
निज प्राणों का संगीत प्रिये !
कुछ मान-भरी, कुछ भ्रमित, चकित
करती है अभिलाषा नर्तन;
रचकर अपना असीम उसमें
लय होता जाता है जीवन।
कल-एक विकल कल्पना व्यर्थ,
कल—यहाँ चुका है बीत प्रिये !
तुम हो, मैं हूँ, है वर्तमान,
है प्राणों का संगीत प्रिये !

---

[१७]

श्री हरिवंशराय 'बच्चन'—निराशावादी कवियों में बच्चन जी सब से अधिक निराश कवि हैं। शाश्वत जीवन के रूप-वैभव की नश्वरता में उनकी निराशा उत्तरोत्तर तीव्र, करुण और व्यक्तिगत होती चली गई है। इस नश्वरता और निराशा की गहरी अनुभूति में उन्होंने मानव का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया है। और उसे ही अपने काव्य में गाया है। बच्चन

जी में जीवन के यथार्थ और दार्शनिक तत्त्व को कविता का रूप दे देने की अद्भुत प्रतिभा है। वह भी सरल से सरल भाषा में, जनसामान्य के प्रचलित मनोभावों में। जिससे दार्शनिक गहन विचार भी उनके काव्य में हृदय के स्वाभाविक प्रस्फुरण से ही ज्ञात होते हैं। यही कारण है कि वे नवोदित कवियों में सब से अधिक लोकप्रिय हैं। वे अपनी शैली के प्रवर्त्तक हैं, क्या भाव में, क्या भाषा में, क्या उद्देश्य में।

बच्चन जी अपने काव्य में सर्वत्र गीति-प्रधान कवि हैं। प्रारम्भिक रचना 'तेराहार' के पश्चात् उनके गीतों की भाव-भाषा प्रगीतत्त्व के अनुकूल होती चली गई। 'तेराहार' में नैराश्य, झंडा, बंदी, कोयल और प्रेम सम्बन्धी कविताएँ हैं, किन्तु इन सब में केवल नैराश्य और विरह-विषाद की भावना ही उनके काव्य में विकसित हो पाई। इसके बाद उन्होंने 'रुबाईयाते उमर-ख़य्याम' का सफल अनुवाद किया। जिसका प्रभाव उनके काव्य पर समुचित पड़ा। एतदर्थ उन्होंने 'मधुशाला' में प्याला और मधुशाला, मदिरा और साक़ी को प्रतीक मानकर जीवन के सरल सत्य, संघर्ष और दार्शनिक विचारों को गाने के लिए,—

भावुकता अंगूर लता से खींच कल्पना की हाला;
कवि बनकर है साक़ी आया भरकर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिये दो लाख पिये,
पाठक गण हैं पीने वाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।

किन्तु अमृत पान करने वाला पवित्र देश अंगूरी मदिरा के दूषित वातावरण को देख चौंक पड़ा। इससे कवि के ऊपर अनेक लांच्छन लगाए गए। पर इस में जो तथ्य है, उच्च से उच्च कोटि के काव्य का उद्देश्य भी वही होता है। उनके काव्य में जो भावना है वह नितान्त पवित्र और श्रेयस्कर है। क्योंकि अपने काव्य के उद्देश्य के विषय में वे स्वयं कहते हैं कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक कल अपना अपनापन मिटाकर किसी ऐसी महज्ज्योति के चरणों को प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रही है, जिसकी एक बार आरती उतार कर वह बुझ जाए।···और कवि अपना अपनापन सजीव शब्द-पदों में व्यंजित

करके चाहता है कि वे किसी के हृदय को शीघ्रता से छूकर संसार के सघन कोलाहल में छिप जाएँ—खो जाएँ। वह आत्मानन्द नहीं आत्म-समर्पण चाहता है। वह सदा जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रेम-द्वेष आदि के ही गीत गाता है। और उसका उद्देश्य है,—

राह पकड़ तू एक चलाचल
पा जाएगा मधुशाला।

इसी प्रकार 'मधु बाला' में कवि ने अपने यौवन की मस्ती में जीवन के सभी गीत गाए। किन्तु वह वाह्य सांसार की नश्वरता और दुखों से अधिक पीड़ित हुआ। उसके गान में 'है सृष्टि प्रथम, है अन्तिम 'लय' की भावना ही से उसका 'अपना ही जीवन-निधन' हो रहा है। पाँच पुकार, प्याला, बुलबुल, इस-पार-उस पार आदि ऐसे ही गीत हैं। मधुबाला के गीत यद्यपि संक्षिप्त नहीं हैं, किन्तु उन गीतों का एक-एक पद अपने भाव में पूर्ण है और सम्पूर्ण गीत के भावों में भी अद्भुत अन्विति है। भावावेश के तीव्र प्रवाह से उनमें संगीत एवं लय का पर्याप्त निर्वाह हुआ है। इसी कारण वे गेय गीत हैं। अब तक 'बच्चन' जी की दृष्टि वाह्य-जगत पर ही रही। सृष्टि के दुख-दैन्य से ही वे निराश होकर करुणा के आँसू बहाते रहे। किन्तु 'निशानिमन्त्रण' में कवि ने अपना वास्तविक विदग्ध अन्तर्जगत खोला। इसीलिए उनके गीतों की शैली में सहसा परिवर्तन दिखलाई पड़ा। उनके भाव गम्भीर होकर संक्षिप्त पदों में अभिहित होने लगे। उसमें निराश करुणा का रंगीन वातावरण है, जिसकी वेदना-युक्त छाया उनके मानस-सागर में पड़कर उसे भी वैसा ही बना देती है। वे उस सागर में डूबते डूबते विलीन हो जाते हैं—

सागर में हम कूद पड़े थे भूल जगत के कूल-किनारे!
साँसों में अटका जीवन है,
जीवन में एकाकी पन है,
सागर की बस याद दिलाते नयनों में दो जलकण खारे।

आगे चलकर 'एकान्त-संगीत' में प्रकृति का यह रंगीन वातावरण भी

सिमट कर कवि के मानस में ही समा जाता है। यह स्वयं विश्वभर की करुणा, विषाद और वेदना का महान केन्द्र हो जाता है। वह मधुबाला के पाठकों को सचेत करके कहता है,—

आगे हिम्मत करके आओ!
मधुबाला का राग नहीं अब,
अँगूरों का बाग नहीं अब,
अब लोहे के चने मिलेंगे, दाँतों को अज़माओ।

निशा निमन्त्रण और एकान्त संगीत के गीत आदर्श गीत हैं। उनमें कवि की अमर प्रतिभा का आभास मिलता है। बच्चन जी को प्रकृति के रूप-चित्रण में रंगीन वातावरण ही अधिक रुचिकर है। गहरी अनुभूति में वे सब से पहले प्रकृति के किसी अंश का आनन्द दायक चित्र उपस्थित करते हैं, किन्तु अन्त में वह सब करुणा और विषाद में घुलकर उनके मानस में चू पड़ता है। 'सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है—' उनका एक ऐसा ही गीत है। सन्ध्या की वासन्ती आभा से वृक्षों की चोटियाँ, सरिता का मन्द मन्द बहता जल, नाव के पाल आदि सब ही स्वर्णिम होकर चमक उठे हैं। इस दिव्य आभा का उपहार कवि को भी मिलता है। किन्तु क्षण भर में ही इस उपहार और शृंगार को पाकर उसकी 'आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की-सी बन जाती है।' यह वेदना हृदय को तीर की भाँति चीरती चली जाती है। सन्ध्या का यह मनोहर वैभव विषाद जनक बन जाता है। इसी प्रकार अनेक गीतों में सन्ध्या, तूफ़ान, वर्षा, प्रभात, साथी के पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। किन्तु है सब में आत्म-पीड़न ही। 'एकान्त संगीत' में वह इस वातावरण को भी 'साथी साथ न देगा दुख भी' अथवा 'जाओ कल्पित साथी मन के' कहकर विदा दे देता है और असहाय की भाँति इस विश्व में अपने को एकाकी पाकर तिलमिला उठता है,—

भूपर बन, वारिधि पर बेड़े, नभ में उडु-खग मेला,
नर-नारी से भरे जगत में कवि का हृदय अकेला।

इस एकाकी हृदय से उनके अपने गान निकलते हैं, जो आह में, प्रभाव में, भावाभिव्यंजना में और सरलता में सबसे अधिक हृदय-ग्राही हैं। 'निशानिमन्त्रण' में प्रकृति के रूप-सौन्दर्य में जो क्षणिक वैभव था वह इसमें करुणाकर ही बन गया है। मध्य निशा में एकाकी पंछी की मधुर कूजन में कितनी वेदना है,—

ध्वनित धरातल और गगन है,
राग नहीं है यह क्रन्दन है,
टूटे प्यारी नींद किसी की, इसने कंठ करुण निज खोला!
मध्य निशा में पंछी बोला!

इस गीत में पक्षी के बोलने का कितना सच्चा वातावरण कवि ने बनाया, किन्तु जीवन के एकाकी विषाद के लिए। संसार में जब दुख-संताप ही है तो फिर कवि किसके लिए रोए, किसके लिए हँसे,—

जीवन मुझे जो ताप दे,
जग जो मुझे अभिशाप दे,
जो काल भी सन्ताप दे, उसको सदा सहता रहूँ,
किसके लिए किसके लिए!

और इस विलाप में विरह-वेदना की यह विदग्ध कल्पना जो अनुभूति के गहरे सागर में डूबकर उछलती है कितनी तीव्र हो जाती है,—

क्यों पूछता दिनकर नहीं,
क्यों पूछता गिरिवर नहीं
क्यों पूछता निर्झर नहीं,
मेरी तरह, जलता रहूँ, गलता रहूँ, बहता रहूँ!

भावाभिव्यक्ति से आत्माभिव्यक्ति पर आने की बच्चन जी में अपार क्षमता है। वे प्रत्येक भाव को अपने ही ऊपर घटा देते हैं। इस से उनके गीतों में अन्तर्जगत का सच्चा चित्र सा खिंच जाता है। जिसमें वाह्य जगत का प्रतिबिम्ब भी साफ़ झलकता रहता है। अतएव उनके गीतों में भाव

सामान्य रूप से विकसित होकर अन्तिम पंक्ति में दीर्घ-निःश्वास के साथ समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार कवि को सुमन की गंध आती है, किन्तु वह उसके सुवासित सौरभ से खिल उठने के बजाए विषाद से भर जाता है—

किस कुसुम का श्वास छूटा ?
किस कली का भाग्य फूटा ?
लुट गई सहसा खुशी इस कालिमा में किस चमन की ?
गंध आती है सुमन की !

और अन्त में—

एक ही गति है कुसुम के प्राण की, कवि के वचन की।

कह कर वह अपने विषाद की चरम अभिव्यक्ति कर देते हैं। तब उनका मन शीतल चाँदनी में भी घुलने लगता है। वह कभी उल्लास के गीत गाने लगता है, कभी विषाद का मर्सिया—

हूँ कभी मैं गीत गाता,
हूँ कभी आँसू बहाता,
पर नहीं कुछ शान्ति पाता,
व्यर्थ दोनों आज रोदन और गायन चाँदनी में !
घुल रहा मन चाँदनी में !

'आज घन मन भर बरसलो' में बच्चन जी की कला का पूर्ण स्वरूप मिलता है। संगीत, लय और भावव्यंजकता एवं अनुभूति की तीव्रता का अनुपम सामंजस्य हुआ है। वे भाव भावावेश में समुन्नत होते हैं, किन्तु अन्त में वही—'और तुम भी तो रहे—मृत्यु में निज मुक्त रस लो', कह कर विलीन हो जाते हैं। यही उनका अन्त है।

युग की यथार्थ भावनाओं का कितना मार्मिक संघटन किया है। मानव के ऊपर दुर्भाग्य का क्रोध है। वह परिवार से छूट-छाट कर नितान्त एकाकी न जाने किसकी खोज में भटक रहा है। सभी सांसारिक व्यवहारों में उसे असफलता मिल रही है। उसका जगती से विश्वास उठ गया है। वह सभी राग-रंग भूलकर विभ्रान्त है—

संघर्ष में टूटा हुआ,
दुर्भाग्य से लूटा हुआ,
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं।

और यह अकेलापन, यह सूनापन भी उसे सुखकर न हुआ तो,—

मैं समझूंगा सब व्यर्थ हुआ
लम्बी काली रातों में जग—
तारे गिनना, आहें भरना, करना चुपके-चुपके रोदन !
सुखमय न हुआ यदि सूनापन !

परन्तु 'आकुल अन्तर' में आकर कवि इस सूनेपन के सुख का तिरस्कार कर स्वयं सूनेपन को ही श्राप समझने लगा है। वह उसके लिए अभि-शाप है। उसकी करुणा, विषाद और आहें अब साकार सी होकर कड़ी साधना के फल स्वरूप विद्यमान हुआ चाहती हैं। पर वह इस समय अत्यन्त भ्रान्ति में है। अतएव उसे शूलों की विषमता अभी और सालना चाहती है—

तूने अभी नहीं दुख पाए।
शूल चुभा तू चिल्लाता है,
पाँव सिद्ध तब कहलाता है,
इतने शूल चुभें शूलों के
चुभने का पग पता न पाए।

कभी वह अपने विगत पर आंसू बहाता है और कभी वर्तमान ऐश्वर्य पर प्यार लुटाता है पर दोनों चित्र सामने आकर उसे व्यथित ही करते जान पड़ते हैं—

सिर पर बाल घने, घुंघराले,
काले, कड़े, बड़े बिखरे से,
....
सिर पर बाल कढ़े कंघी से
तरतीबो से, चिकने काले,

जग की रूढ़ि रीति ने जैसे
मेरे ऊपर फन्दे डाले।

और इसी से जो माथा ऊपर को उठा हुआ था और भौंहों में कुछ टेढ़ापन था वह भौंहे नीचे को झुकी हुई ज्ञात होती हैं। इसी से कवि की भावनाओं में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया है। जिससे सांसारिक पाप और अनुचित कर्मों के लिए वैसी ही भावना पाते हैं जैसी कि सूर के 'प्रभु हौं पतितन कौ टीकौ' में मिलती है—या तुलसी के 'ऐसी मूढ़ता या मन की' अथवा 'मन पछितैहैं अवसर बीते' में मिलती है। कवि अपनी सजगता में कहता है—

कभी मन अपने को भी जाँच
नियति पुस्तिका के पन्नों पर
मूँद न आँखें, भूल दिखाकर,
लिखा हाथ से तूने अपने
जो उसको भी बाँच।
सोने का संसार दिखाकर,
दिया नियति ने कंकड़-पत्थर,
सही, सँजोया कचन हार
तूने कितना काँच ?
कभी, मन, अपने भी जाँच।

और कभी मधुर स्मृतियों को जगाकर कवि यह गाता हुआ आनन्द में लीन हो जाता है—

कैसे भेंट तुम्हारी ले लूँ ?
क्या तुम लाई हो चितवन में,
क्या तुम लाई हो चुम्बन में
अपने कर में क्या तुम लाई,
क्या तुम लाई अपने मन में,

अतएव 'बच्चन' जी के गीतों में हम आप-बीती जग-बीती करुण-

कथा का लोक वाणी में स्वाभाविक रुदन पाते हैं। महादेवी की वेदना में हमें सचेतन आशा मिलती है पर बच्चन की वेदना में नितान्त निराशा है जो अपने लिए ही है। उनकी भाषा परिष्कृत साधारण बोलचाल की भाषा है। साथ ही उसमें जन सामान्य में प्रचलित उर्दू शब्दों को भी ऐसी चतुराई से रक्खा गया है कि वे हिन्दी कविता के ही शब्द हो गए हैं। जैसे 'आज ग़म इतना हृदय में' अथवा 'तब न मेरी ज़िन्दगी के दिन गए क्यों बीत'।

'बच्चन' जी मुख्य कर प्रेरणा के कवि (Inspired poet) हैं। पर उत्तरोत्तर उनमें अनुभूति की मात्रा बढ़ती जा रही है। निशा-निमन्त्रण से चलकर एकान्त-संगीत तक आने में कवि अपने विषाद की अनुभूति में प्रकृति के रंगीले वैभव को भी भूल जाता है जिनसे प्रेरणा लेकर उसने निशा-निमन्त्रण के गीत गाए। अब सन्ध्या का सिंदूर लुटाना उसकी अन्तश्चेतना को सजग करने में शिथिल पड़ गया है। 'आकुल अन्तर' में वह अनुभूति की गहराई में गोता लगा कर पाप-पुण्य की परख करने लगा है। जीवन के कारनामों में काँच और कांचन को आँकने लगा है।

मध्य निशा में पंछी बोला !
ध्वनित धरातल और गगन है,
राग नहीं है, यह क्रन्दन है,
टूटे प्यारी नींद किसी की, इसने कंठ करुण निज खोला !
मध्य निशा में पंछी बोला !

निश्चित गाने का अवसर है,
सीमित रोने को निजघर है,
ध्यान मुझे जग का रखना है, धिक मेरा मानव का चोला !
मध्य निशा में पंछी बोला !

कितनी रातों को मन मेरा
चाहा, करदूँ चीख़ सवेरा,

पर मैंने अपनी पीड़ा को चुप-चुप अश्रु कणों में घोला !
मध्य निशा में पंछी बोला !

विश्व मनायेगा कल होली !
घूमेगा जग राह राह में
आलिंगन की मधुर चाह में,
स्नेह-सरसता से घट भरकर, ले अनुराग-राग की झोली,
विश्व मनायेगा कल होली !

उर से कुछ उच्छ्वास उठेंगे,
चिर-भूखे भुज-पाश उठेंगे,
कंठों में आ रुक जायेगी मेरे करुण प्रणय की बोली,
विश्व मनायेगा कल होली !

आँसू की दो धार बहेंगी
दो-दो मुट्ठी राख उड़ेगी;
और अधिक चमकीला होगा जग का रंग, जगत की रोली !
विश्व मनायेगा कल होली !

आ रही रवि की सवारी !
नव किरण का रथ सजा है,
कलि-कुसुम से पथ सजा है,
बादलों से अनुचरों ने स्वर्ण की पोशाक धारी !
आ रही रवि की सवारी !

विहग वंदी और चारण,
गा रहे हैं कीर्ति-गायन,
छोड़कर मैदान भागी तारकों की फौज सारी !
आ रही रवि की सवारी !

चाहता उछलूं विजय कर,
पर ठिठकता देखकर यह—
रात का राजा खड़ा है राह में बनकर भिखारी।
आ रही रवि की सवारी!

संध्या सिंदूर लुटाती है।
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर
निज नीड़-अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पास लगाती है।
संध्या सिंदूर लुटाती है।

करती सरिता का जल पीला
जो था पल-भर पहले नीला,
नावों के पालों को सोने की चादर-सा चमकाती है।
संध्या सिंदूर लुटाती है।

उपहार हमें भी मिलता है,
श्रृंगार हमें भी मिलता है,
आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की-सी बन जाती है!
संध्या सिंदूर लुटाती है।

चाँद सितारो, मिलकर गाओ!
आज अधर से अधर मिले हैं,
आज बाँह से बाँह मिली,
आज हृदय से हृदय मिले हैं,
मन से मन की चाह मिली;
चाँद-सितारो मिलकर गाओ!

चाँद सितारे मिलकर बोले,
कितनी बार गगन के नीचे
प्रणय-मिलन व्यापार हुआ है,
कितनी बार धरा पर प्रेयसि—
प्रियतम का अभिसार हुआ है!
चाँद सितारे मिलकर बोले!

चाँद सितारो मिलकर रोओ!
आज अधर से अधर अलग है,
आज बाँह से बाँह अलग,
आज हृदय से हृदय अलग है,
मन से मन की चाह अलग;
चाँद सितारो मिलकर रोओ!

चाँद सितारे मिलकर बोले।
कितनी बार गगन के नीचे
अटल प्रणय के बन्धन टूटे,
कितनी बार धरा के ऊपर
प्रेयसि-प्रियतम के प्रण टूटे!
चाँद सितारे मिलकर बोले!

———

(१८)

श्री नरेन्द्र शर्मा—शर्मा जी ने भी भगवतीचरण जी की ही भाँति लौकिक प्रेम और यथार्थवादी गीत गाए हैं। पर शर्मा जी अपनी प्रियतमा के द्वारा इसी लोक में रम कर अलौकिक प्रेम की ओर विचरते ज्ञात होते हैं। लौकिक प्रेम में उनकी भावना अधिक शृङ्गारिक है जिसमें संयोग शृंगार की प्रचुर मात्रा है। इसी संयोग में वे वियोग की कल्पना से कुछ वेदना का अनुभव करते हैं, जैसे—'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे' वाले गीत में स्पष्ट है।

श्रृंगार की भावना द्वारा प्रकृति के सौन्दर्य में बिखरे अलौकिक प्रेम की कितनी मधुर व्यंजना है जिसमें कुछ वासना जनित नम्रता आगई है:—

आज न सोने दूँगी बालम,
मेरे अधिक निदारे बालम !
... ...
हरसिंगार जो झरझर भरते
कुसुम-राशि से सेज मनोहर,
सौरभ की नन्हीं बूँदों—से
फूल गिराते पुलकित तन पर,
रग रग में कुछ अकुलाहट भर
पुलक पुलक आकुल कर, बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय,
निज वक्षस्थल में भर लूँगी,
मृदुल गोल गोरी बाहों में,
कम्पित अङ्गों में कस लूँगी,
फूलों के तन में भर लूँगी,
अलि-से रैन-निदारे बालम !

'प्रभात फेरी' के पश्चात् किसी अज्ञात प्रणयिनी की खोज में 'प्रवासी के गीत' गाकर कवि 'पलाशवन' में विचरण करता है। वासन्ती माधुर्य के स्वप्न से जगकर यथार्थ की चिन्ता-निराशा और असन्तोष की छाया में मिलकर कवि प्रकृति की ओर उन्मुख होता है। निम्नगीत में कितना चाव भरा आनन्द है—

अलि, झूम झूम आई बेला यौवन की !
तू देख, अली, कचनार-कली,
यह नई-नई खुल खेल रही,
अलि, खिली आज यौवन-बहार जीवन की।

अथवा 'अलिदल' से—

चाह भरे अलि, आह जगाते
पल में नव अलिदल घिर आते,
कभी लाज की, कभी प्यार की,
कभी राग की आग लगाते,
किंशुक और पलाश जगाते आते, अलि, अलि के दल पागल।

शर्मा जी के गीतों में उत्तरोत्तर मौलिकता के दर्शन हो रहे हैं। प्रेम की विह्वलता में उनकी भावना कितनी मधुर, व्यंजक और मौलिक है। संगीत की दृष्टि से यह गीत बहुत सुन्दर है,—

चौमुख दिवला बार—
धरूँगी चौबारे पै आज
सखी री चौमुख दिवला बार।
जाने कौन दिशा से आवें मेरे राजकुमार ?

कवि अपने गीतों में प्रगतिशीलता की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा है। जिससे गीत समय के सच्चे चित्र होकर अमिट प्रभाव की उत्पत्ति करते हैं। शर्मा जी के गीत निश्चय ही पथ निर्माण करेंगे—ऐसा सम्भाव्य है।

अलिदल

नये नेह के गान सिखाने आए, वसन्त के अलिदल !

नभ में ये झुकते बल खाते,
पावस-घन-से ही मँडराते,
वैसे ही मद-भरे झूमते इठलाते आते अलि श्यामल !

गर्जन ना, सखि गुञ्जन लाए,
पावस ना, वसन्त भर लाए,
चल चम्पक-कञ्चन बिजली ना,
केसर रेखा अंग लगाए,
प्यास बुझाने नहीं, आज तो प्यास जगाने आए बादल !

चाह भरे अलि, आह जगाते,
पल में नव अलिदल घिर आते,
कभी लाज की कभी प्यार की,
कभी राग की आग लगाते,
किंशुक और पलाश जगाते, आते अलि, अलि के दल पागल !

खिली कान्ति कचनार-कुसुम में,
हुई मञ्जरित सुधि रसाल में,
फूट पड़ी अब तरुण अरुण वय
खिल-खिल खुलती कुसुम-माल में,
यौवन-हाला, जीवन-ज्वाला, उमड़ा लाए उपवन-पाटल !

दाड़िम फूट पड़े यौवन में—
नेह-गान गाए कलियों ने,
घूँघट-पट की सलज ओट से
अचक आँख खोलीं कलियों ने,
नयनों में बोलीं मुसकाईं, रोली रँगे कपोल खोल चल !

जीवन के पल

बीत रहे पल पल जीवन के !
कभी अँधेरी, कभी उजाली,
प्रात और सन्ध्या की लाली
रँगती सूने पल जीवन के !

क्षणिक कल्पना, नश्वर आशा,
फूलों की मुसकाती भाषा,
बहलाती कुछ पल जीवन के !
बात जगाती सोई सदियाँ,
निद्रा दुलराती मधु-स्मृतियाँ,
चलते यों ही पल जीवन के !

कल थी कल, है आजआज, फिर
कल होगी कल, कहाँ आज फिर !
कलकल बहते पल जीवन के !
बीत रहे पल पल जीवन के।

———

चौमुख दिवला बार—
धरूँगी चौबारे पै आज
सखीरी, चौमुख दिवला बार।
जाने कौन दिशा से आवें मेरे राजकुमार ?
जब जब पवन सन्देशा लावे,
दीये की लौ सौ बल खावे,
झाला दे-दे पास बुलावे,
उझक देख मैं जानूँ मेरे आए राजकुमार !
सखीरी, चौमुख दिवला बार !
देखूँ जंगल में पटबिजना,
गगन बीच तारों का खिलना,
मैं जानूँ यह केवल छलना,
कौन कहे सचमुच आवेंगे मेरे राजकुमार !
सखीरी, चौमुख दिवला बार !
होता दीप स्नेह से रीता,
आशा में सब जीवन बीता,
मैं अनदेखे की परिणीता
निर्मोही बन मोहे लेते मेरे राजकुमार !
सखीरी, चौमुख दिवला बार !
छीज रही तन-मन की बाती,
दीये-सी ही रात सिराती,
जीती तो फिर दीप जलाती,
कह भर देता कोई—मेरे आते राजकुमार !

सखी री, चौमुख दिवला बार !
धरूँगी चौबारे पै आज,
जाने कौन दिशा से आवें मेरे राजकुमार ?

हृदय में संताप मेरे, देह में है ताप !
कौन है जो बात पूछे ?
कौन है जो अश्रु पोंछे !
अश्रु मेरे सूख जाते किन्तु अपने आप !
वात, पीले पात-सा जो
ले उड़ी थी दे भुलावा,
छोड़ कर चल दी मिला जब
उसे फूलों से बुलावा,
कर लिया हलका हृदय रो खीझ कर चुप-चाप !
मैं किसे अपना कहूँगा
कह रहा सुनसान भी जब,
'बंधु, जाओ, व्यस्त हूँ
मधुमास स्वागत-काज में अब !'
न हो कोई, मैं सुनूँगा स्वयम् आत्म प्रलाप !
हो उठा करुणार्द्र सहसा
था कभी निष्ठुर बधिक जो,
आज समझा सुख वही है
यातना जब अत्यधिक हो,
इसी विधि वरदान बनता वाम विधि का शाप !
झूठ साबित हो रहे हैं
ज़िन्दगी के सब बहाने,
पर भटक कर भूल कर भी
पहुँचता जाता ठिकाने,
हो रहे अपने बिराने, छीजते जाते पुराने पाप !

---

[१६]

पं० सोहन लाल द्विवेदी—बदलते युग के प्रगतिशील कवियों में पं० सोहन लाल द्विवेदी युग की प्रतिनिधि प्रवृत्तियों के प्रशस्त पथ पर चल रहे हैं। इन प्रवृत्तियों के प्रभाव और प्रतिक्रिया से समाज में जो जीवन, जो सजगता और जो प्रकाश आया है उनके सच्चे गान हमें द्विवेदी जी ने सुनाए हैं। उनके काव्य में हमें प्रगतिशील भावना का सच्चा स्वरूप मिलता है। प्रगतिवाद जीवन की यथा-तथ्य सच्चाई के बीच भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने आ रहा है। समाज की राजनीतिक हीनता और आर्थिक-संकट के द्वारा उत्पन्न नैतिक पतन का प्रदर्शन एक रूप है; समाज की धार्मिक हीनता और सदाचार की उपेक्षा तथा युवक की प्यासी आँखों को रूप-रस का लोभ, केवल नेत्र-तृप्ति की लालसा एवं उत्तेजित प्रेम का प्रदर्शन दूसरा रूप है; और युगाधार बापू के प्रभाव से समाज में नव जागरण, खादी के प्रति प्रेम, देश-प्रेम और समानता की सुधारवादी भावनाओं का प्रदर्शन तीसरा रूप है। आज के कवियों में हम इन तीनों भावनाओं का यथेष्ट अभिव्यंजन पाते हैं। पं० सोहन लाल द्विवेदी तीसरे रूप के उपासक हैं। वास्तव में वे खादीवाद के प्रतिनिधि कवि हैं। नव-जीवन और नवीन संस्कृति की प्रगति में ही वे सच्चे प्रगतिशील हैं। क्योंकि इस प्रगति में ही गान्धीवाद का संस्कार और रहस्य छिपा है।

पं० सोहनलाल द्विवेदी अपने गीतों में क्रान्तिकारी हैं, भावनापन्न हैं, अनुभूतिशील हैं। गीतों की भावना में वे सुकुमार हैं और संदेश में पुण्यशील। उषा के परम मनोहर, मधुमय रूप में जीवन का कल्याण छिपा है, किन्तु तभी जब कि उर में प्रभु भासमान हो :—

> **ऊषा के मधुमय अंचल में**
> **वह पुण्यवान वह भाग्यवान**
> **जिसने यह क्षण पाया महान**
> **जब प्रभु उर में हो भासमान**

बल आ जाता है निर्बल में,
ऊषा के मधुमय अंचल में।

द्विवेदी जी परम रूपवान भगवान के प्रति सजग हैं। अपने गीतों में वे उसके नव-नव रूपों की कल्याणमयी अनुभूति की अभिलाषा करते हैं—

नव-नव रूप धरे चिर सुन्दर,
मेरे अंग बसो।

इतना ही नहीं, वे भारतीय संस्कृति के अनुरूप सदैव नाम-रटने में तन्मय हो जाना चाहते हैं—

अधरों में मृदु मधुर नाम बन,
प्राणों में बनकर नव स्पंदन;
रोम रोम में मृदुल पुलक बन,
नव जीवन सरसो।
नव-नव रूप धरे, चिर सुन्दर,
मेरे अंग बसो।

वास्तव में यह रहस्यवादी 'अज्ञात सत्ता' की भावना के प्रति एक बड़ी प्रतिक्रिया है। आज का कवि रहस्यवादी भगवान के सूक्ष्म रूप को उसी प्रकार छोड़ता ज्ञात होता है जिस प्रकार कि ज्ञान मार्गी संत कवियों के 'निर्गुन ब्रह्म' को भक्त-कवियों ने छोड़ दिया था। इसी प्रकार की भक्ति-भाव की नवीन भावना हमें श्री सुधीन्द्र जी के गीतों में स्पष्ट रूप से मिलती है। मेरा विश्वास है कि यह भावना उत्तरोत्तर बलवती होकर भक्ति के नवीन रूप को प्रकट करेगी।

कवि अपने गीतों की तन्मयता में अपनी भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों से भगवान की अनुभूति करना चाहता है। अतएव वह भगवान से ज्ञानेन्द्रीय विशेष के उपयुक्त बन जाने की प्रार्थना करता है। कान तो केवल शब्द-रस की ही अनुभूति कर सकता है अतएव वह भगवान से मृदुतानों की मींड़ बन जाने की प्रार्थना करता है। इस भाव में आधुनिकता के नितान्त मौलिक दर्शन होते हैं। परम्परागत भक्ति में भक्त भगवान के अनुरूप बनता है और

उसे पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए चार अवस्थाएँ मानी गई हैं—सारूप्य, सालोक्य, सामिप्य और सायुज्य। किन्तु आज भक्त की तृप्ति के लिए स्वयं भगवान को ही अपना रूप बदलना होगा। सारूप्य की अवहेलना कर वह स्वयं भगवान को ही अपने रूप में देखना चाहता है।

क्या तुम मेरे रूप बनोगे ?
मेरे नयन डोर मनघट के
चिर छबि जल के कूप बनोगे ?
क्या तुम मेरे रूप बनोगे ?
तृषा बनोगे इन आँखों की
प्रगति बनोगे इन पाँखों की,
मन विहंग के नंदन कानन
मधुमय छाया धूप बनोगे ?
क्या तुम मेरे रूप बनोगे ?
मीड़ बनोगे मृदुतानों की
तृप्ति बनोगे इन प्राणों की,
मेरी कविता के कुसुमों के
तरल मंद अनूप बनोगे ?
क्या तुम मेरे रूप बनोगे ?

द्विवेदी जी मन की दुर्बलता को दुतकार कर उसे उत्साह, उमंग और प्रगति के पथ में चलने का आह्वान देते हैं। युग की निराशाओं के बीच मन विचलित होकर निष्क्रिय हो जाता है। किन्तु मन के ऊपर यह प्रभाव स्वयं उसी की भावनाओं के द्वारा होता है। अतएव हमको इस प्रकार की भावनाओं को मिटा देना चाहिए। व्यर्थ की चिन्ता और परेशानी से मन प्रगति की ओर नहीं ले जा सकता। इसलिए मन को सदैव प्रशस्त-मार्ग की ओर अग्रसर करना चाहिए—

प्रबल झंझावात में तू बन
अचल हिमवान रे मन !

हो बनी गम्भीर रजनी,
सूझती हो नहीं अवनी,
ढल न अस्ताचल अतल में
बन सुवर्ण विहान रे मन !

देश-प्रेम और देश सेवा की भावना से प्रभावित होकर उन्होंने कुछ प्रयाण गीत (चर गीत) भी लिखे हैं। इस प्रकार के गीतों के लिखने की प्रेरणा स्काँउटिंग और राजनीतिक आन्दोलनों से मिली है। इस प्रेरणा का आह्वान सर्व प्रथम श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी ने निम्न पंक्तियों के द्वारा किया—

मुझे तोड़ लेना बनमाली और उस पथ में तुम देना फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ से जावें वीर अनेक ।

देश-सेवा के हित जाने वाले अनेक वीरों के पथ को ऐसे प्रयाण गीत परम पुण्यशील बना देते हैं। वे अपरिमित साहस और उत्साह की जागृति करते हैं। अतएव प्रयाण गीतों का बड़ा महत्व है—

घटा घिरी अटूट हो
अधर में कालकूट हो
वही अमृत का घूंट हो
जिये चलो, मरे चलो।

इसी प्रकार द्विवेदी जी ने बालकोपयोगी काव्य के अन्तर्गत सरलतम गीतों की रचना भी की है। यह उनकी एक विशेषता है।

नयनों की रेशम डोरी से !
मत गूँथो मेरा हीरक मन
अपनी कोमल बरजोरी से !
स्नेह दो इसको निर्जन में
बाँधो मत मधुमय बन्धन में;
एकाकी ही है भला यहाँ,
निठुराई की झकझोरी से।

अन्तरतम तक तुम भेद रहे,
प्राणों के कण-कण छेद रहे;
मत अपने पन में कसो मुझे,
इस ममता की गाँठ जोरी से ।

निष्ठुर न बनो मेरे चंचल,
रहने दो कोरा ही अंचल;
मत अरुण करो हे तरुण किरण !
अपनी करुणा की रोरी से ।

प्रयाण-गीत

न हाथ एक शस्त्र हो,
न साथ एक अस्त्र हो,
न अन्न, नीर, वस्त्र हो
हटो नहीं
डटो कहीं
बढ़े चलो
बढ़े चलो !

रहे समक्ष हिम शिखर
तुम्हारा प्राण उठे निखर,
भले ही जाए तन बिखर
रुको नहीं
झुको नहीं,
बढ़े चलो
बढ़े चलो ।

घटा घिरी अटूट हो,
अधर में कालकूट हो,
वही अमृत का घूँट हो,

जिये चलो,
मरे चलो
बढ़े चलो
बढ़े चलो !
गगन उगलता आग हो,
छिड़ा मरण का राग हो,
लहू का अपने फाग हो,
अड़ो वहीं
गड़ो वहीं
बढ़े चलो
बढ़े चलो !
चलो नई मिसाल हो,
जलो नई मशाल हो,
बढ़ो नया कमाल हो,
रुको नहीं
झुको नहीं,
बढ़े चलो
बढ़े चलो !
अशेष रक्त तोल दो
स्वतन्त्रता का मोल दो,
कड़ी युगों की खोल दो
डरो नहीं
मरो वहीं
बढ़े चलो
बढ़े चलो ।

यह दुराव अब चल न सकेगा !

चल न सकेगा यह संगोपन,
खुलते भावों का संकोचन;
पहचानी मुसकान तुम्हारी,
भ्रकुटी धनुष अब छल न सकेगा।
यह दुराव अब चल न सकेगा।
पाकर चंद्रवदन की छाया,
शीतल बने प्राण-मन-काया,
भव आतप के अगम पंथ में
कोई भी दुख खल न सकेगा!
यह दुराव अब चल न सकेगा!

---

[२०]

श्री आरसीप्रसाद सिंह—प्रकृति और जीवन के विविध रूपों की विस्तृत और गम्भीर व्यञ्जना श्री आरसी प्रसाद सिंह के विशाल काव्य में प्रधान रूप से मिलती है। समय की बदलती प्रवृत्तियों का उन पर कम ही प्रभाव पड़ा है। जीवन की मधुमय कल्पना और पुण्य-चिन्तन में वे संलग्न ज्ञात होते हैं। प्रगति के नवीन रूप की ओर उनकी वाणी मूक है, यद्यपि 'जीर्ण-शीर्ण जड़ता का नाश, करने के लिए वे अरुण हृदय को ज्वालामय कर देने का वरदान' माँग, रहे हैं।

श्री प्रसाद सिंह भारतीय संस्कृति के कट्टर उपासक और पोषक हैं। वे जनवाणी के द्वारा हमें अपनी संस्कृति से आह्वान कर राष्ट्रवाणी का निर्माण करने का संदेश देते हैं। वे अपनी भावनाओं में पुण्यशील पुरातन के प्रति नतमस्तक हैं। उनकी वाणी में जीवन का संस्कार विनिर्मित है—

एक हमारी वाणी
ओ अखण्ड भारत की वाणी!
युग की वाणी
जन की वाणी

कोटि-कोटि कण्ठों की वाणी
कोटि-कोटि जन-गण की वाणी
निखिल राष्ट्र की वाणी

और फिर भाषा की वन्दना करते हुए—

निखिल राष्ट्र की भाषा
निखिल जाति की भाषा
अखिल धर्म की भाषा
अखिल कर्म की भाषा

वे कितनी सुन्दरता से भाषा और संस्कृति का संचार करते हैं—

वह मेरी वाणी
वह मेरी भाषा
जिसमें मेरी क्षुधा-पिपासा,
आने वाले युग की आशा !
जिसमें मेरा ज्ञान, योग, स्मृति,
मेरी संस्कृति !
जन-गण-नायक, त्राता,
भारत - भाग्य - विधाता,
जो जननी, माता !
जिसमें मेरा ईश्वर !
जिस पर
यह जीवन निर्भर !

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवादी युग में पला-पोषा कवि उसकी उपेक्षा करके पूर्णरूप से ईश्वर पर निर्भर है। कवि को स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) विशेष प्रिय है। उनकी इस प्रकार की कविताएँ— 'ओरी तुम चंचल जल परियाँ', 'बालक और तितली' आदि हैं। कुछ प्रकृति गीतों में पन्त जी की छाया मिलती है—

सखि, सरसों की हरियाली में
फूल रहा है कौन सलोना
ले कर में फूलों का दोना ?
चला रहा है जादू-टोना
उस फैली हरियाली में।

और पन्त जी लिखते हैं—

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ !
वह अपनी वय बाली में ?
सजा हृदय की थाली में—
....

श्री आरसी प्रसाद सिंह के काव्य में यत्र-तत्र सुन्दर गीत बिखरे पड़े हैं। उनके गीतों के विशेष गुण हैं—सरलता, माधुर्य और संगीत। उनके गीत कल्पना-प्रधान होते हुए भी अनुभूति की गहराई में नितान्त स्पष्ट हैं। रहस्यवादी गीतों की भाँति उनके समझने के लिए रहस्यवादी वृत्ति को सजग करना नहीं पड़ता। उनका भगवान सरलतम सीधा सादा ईश्वर है। जिसकी अनुभूति भक्ति के सरलरूप में हो जाती है—

साजन को आज मनाऊँ
मैं जीवन का फल पाऊँ !

उन्होंने कुछ प्रेम-गीतों की रचना भी की है। प्रेम की स्पष्ट व्यंजना होते हुए भी उनमें अश्लीलता की भावना मन में नहीं उठती क्योंकि वे पवित्र प्रेम की अनुभूति में प्रेमी-प्रेमिका के भावों के स्वाभाविक चित्र हैं—उत्तेजित प्रेम के वाक्-जाल नहीं—

सखि, कैसे मैं जाऊँगी !
डर लगता है, आज पियाके
ढिग कैसे सो पाऊँगी ?
मैं भोली रस भेद न जानूँ !

अपने पिय को ना पहचानूं;
सेज गए जिय में भय मानूँ
कैसे भला मिलाऊँगी ?
सजनि, आज फिर उनसे कैसे
अपने नयन मिलाऊँगी ?

बादलों को आह्वान कर वे गाते हैं—

सजल हे सुन्दर घन श्याम;
उतरो मेरे आंगन में
करलो क्षण-भर विश्राम !
नीलाम्बर में नीलाम्बर-सा लहरा कर,
उमड़-उमड़, घन ! घुमड़-घुमड़, घहरा कर;
तुम आते हो
बरसाते हो;
जीवन-जल की धारा !
बरस-बरस जाते हो जग में
जग - लोचन के तारा !

इनके आह्वान में गीत का माधुर्य और कल्पना की सुकुमारता है। श्री निराला के 'बादल गरजो' की भांति वह ओज, वह रस और वह भाव विविधता नहीं जो कि बादलों के बदलते वैभव में क्षण-क्षण पर दिखलाई पड़ते हैं।

प्रकृति गीतों में उनका निम्न गीत कितना मधुर है—

अलि, वन्दनवार सजाये—
नव-गति, नव-मति, नव-यति, नव-रति,
नव ऋतु के पति आये।
अलि, वन्दन वार सजाये ?
जग-जग में जग गया नवल रव,
बिकी पिकी सुन पिक-स्वर अभिनव !
विभावरी के नवल मनोभव

कैरव के मन भाये।
अलि, वन्दनवार सजाये।

श्री पंत जी की भाँति इन्होंने भी एकांकी नाटिकाओं में कुछ सुन्दर गीतों की रचना की है। ये गीत बहुत छोटे पर मधुर और प्रभावोत्पादक हैं। ऐसे गीत 'मदनिका' में विशेष उल्लेखनीय हैं। इन गीतों में जीवन के मधुमय चित्र और उल्लास-उमंगों की सुकुमार अभिव्यक्ति है—

गाओ, यौवनमयि, गाओ !
......तुम गाओ, हे......
मृदु मलयानिल के प्राणों से,
सरिता के कल-कल गानों से,
अपना कल कण्ठ मिलाओ;
गाओ, यौवनमयि, गाओ !
......तुम...गाओ, हे......!
सुमनों के सुरभित परिमल से,
अनुराग-रँगे नव द्रुमदल से,
जीवन की प्यास बुझाओ;
गाओ, यौवनमयि गाओ !

अथवा—

इन नयनों को मत टोको,
...तुम टोको, हे...!
इनमें मदिरा का विभ्रम है;
इनमें अतृप्त सुख का श्रम है !
उस जादू को मत टोको
...तुम टोको, हे...!
नयनों में एक पिपासा है,
दो बूँदों की अभिलाषा है !

तुम एक बार अवलोको;
...अवलोको, हे...।

मेरे उपवन का एक फूल—
सौन्दर्य-स्रोत से मिला हुआ,
माधुर्य-मोद में खिला हुआ,
मधु-मलयानिल से फिला हुआ,
गिर पड़ा अचानक झूल-झूल;
मेरे उपवन का एक फूल!
माली की डाली का शृंगार
बन देवी का कल-हृदय हार,
रे चला गया मुझको विसार;
वह कहां हृदय में उठा शूल!
मेरे उपवन का एक फूल!
सुरभित था जिससे दिग्दिगन्त,
फूला था जिस पर मधु वसन्त,
रे चला गया वह किस अनन्त
की ओर मुझे इस तरह भूल
मेरे जीवन का एक फूल!

यहाँ कौन है अपना रे!
एक वासना की ज्वाला में
निशि - दिन बे सुध तपना रे!
भूल कामिनी - कंचम में प्रिय;
जीवन का वह मार्ग अतीन्द्रिय;
सतत प्रपंच, स्वार्थ माया की
मोहक - माला जपना रे!

ममता - सर के खड़ा किनारे
अपने ही में खोया प्यारे,
खोज रहा सुख तू क्या प्यारे
यह संसृति है सपना रे !

साजन को आज मनाऊँ;
मैं जीवन का फल पाऊँ !
चिर-दिन पर अवसर आया है;
साजन मेरा घर आया है !
मैं मनकी बात बताऊँ
साजन को आज मनाऊँ !
जीवन जो मुझको खलता था,
विरहानल में नित जलता था;
अब मिलन सलिल सरसाऊँ;
साजन को आज मनाऊँ !

---

[२१]

श्री सुधीन्द्र एम० ए०—सुधीन्द्र जी के गीतों का अवलोकन कर भक्ति-भाव के नवीन स्वरूप के प्रति मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। वे इस नवीन स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते ज्ञात होते हैं। उनके गीतों में इसी भक्ति की परम-पावन धारा सर्वत्र प्रवाहित है। पं० सोहन लाल द्विवेदी की भाँति ये भी भगवान को अपने ही रूप में देखना चाहते हैं। किन्तु जहाँ द्विवेदी जी अपने ऐसे गीतों में केवल भक्त गायक हैं वहाँ सुधीन्द्र जी रहस्य-वादी भक्त गायक हैं। उनके गीतों में हम स्पष्टतया रहस्यवाद और भक्तिवाद के बीच की अनुभूति के दर्शन करते हैं। एक ओर वे विश्व-व्यापक देव का आह्वान करते हैं तो दूसरी ओर उससे प्रतिमा बनकर रहने की आशा करते

हैं। वे उसे साधारण 'प्रतिमा' के रूप में नहीं वरन् 'विश्व प्रतिमा के रूप में' ध्याना चाहते हैं—

मैं तुम्हें देखूँ कि मैं—
देखूँ तुम्हारी विश्व-प्रतिमा ?

एक ओर वे उसकी अनन्त अनुभूति की अभिलाषा करते हैं तो दूसरी ओर साकार प्रतिमा के चरण पखारने की प्रबल इच्छा से बेचैन हैं। उनकी इन भावनाओं का प्रतिनिधि गीत भक्त की मनुहार आशा-अभिलाषा और सुकुमार तन्मय-कारी व्यंजना से परिपूर्ण है। इस गीत की सुन्दरता तन्मयता में मिलती है—

पूछ रहे हो देव कि मुझको अपने मन्दिर में रहने दो !
क्षण क्षण बना तुम्हारा वंदन;
कण-कण बना आज नव-नंदन
वंदनीय अभिनंदनीय है,
आज तुम्हें पा प्राण अकिंचन !

और फिर अनुभूति के सजग होते ही कवि पूर्ण-भक्त होकर दशों इन्द्रियों से सेवा करना चाहता है—

तुम मेरे अन्तर के वासी
रहने दो यों चिर विश्वासी;
बनें मृत्तिका के कण काशी
हों ये दशों इन्द्रियाँ दासी;
इस नश्वर मृण्मय काया को क्षणिक अमृत वैभव सहने दो !

पूर्ण अनुभूति हो जाने पर उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति में कवि कितनी पुण्यशील प्रार्थना करता है—

रहो यहाँ तुम प्रतिमा बनकर
अगणित शीश झुकें चरणों पर;
पाप शाप तापित काया को
मिले सत्य-शिव-सुन्दर का वर
निज गौरव के लिए पुजारी अपना मुझे सतत कहने दो !

कवि का यह विश्वास, भावना और आशा उत्तरोत्तर बलशाली होते जाते हैं। वे गाते हैं—

दी तुमने लौ जो प्राण लगा,
यह बुझा-बुझा-सा दीप जगा,
इसके उजियाले में तन का प्रिय रूप निखरता जाता है।
सुधि का मोहन उपवन फूला,
खिंच आता बरबस पथ भूला;
सुरभित श्वासों से प्राणों का प्रिय पंथ संवरता जाता है!

भक्त प्रेम के पथ का अनुगामी होता है। कवि प्रेम के पंथ को भी प्रेम की भाँति ही सरल समझता था, किन्तु अन्तर्ध्यान और अनुभूति के पश्चात् वह समझा कि वह वैसा सरल नहीं है। उसमें घूम है, झूम है और धूम्र है—

प्रेम तेरी आग में यह
वासना का धूम्र क्यों है?
पंथ तो इतना सरल है
बीच में यह घूम क्यों है?
जल सकी है ज्वाल कोई
प्राणवायु बिना कभी भी?
मिट सकी है वस्तु कोई
पूर्ण आयु बिना कभी भी?
आह का झोंका नहीं तो
रोक क्यों है झूम क्यों है?
प्रेम तेरी.........।

रहस्यवादी भावना में घुल-मिल कर वे सरल भाव से गाते हैं—

यदि पलभर मुझे निहार सको!
तुम अपने प्राणों की निधि
मेरे कण-कण पर वार सको!
....

अपनी सतरंगी तूली से
यदि मेरा चित्र उतार सको
सब गान तुम्हारे गेय बनें
ये प्राण तुम्हारे प्रेय बनें
मेरी ममता में घोल घोल
यदि अपने बोल निखार सको।

कितना परिवर्तन, कितनी आशा! भक्त भगवान का चित्र न बनाकर स्वयं भगवान ही भक्त का चित्र बनाये! भक्त की ममता में घुलकर वह अपनी वाणी को निखारे और सब से विचित्र है कि वह अपने प्राणों की निधि भक्त के कण-कण पर निछावर करे! किन्तु इसमें सत्यता का पूर्ण आभास है। भगवान भक्त के लिए पैदल दौड़ सकते हैं (पाँव प्यादे धाऊँ) पर भक्त सच्चा होना चाहिए। भगवान भी भक्त की परीक्षा का आयोजन करते हैं। आज के कवि ने परीक्षा के इस आयोजन को बदल दिया है। वह अपनी भावना और स्वरूप को केन्द्र न बनाकर भक्त की भावनाओं और स्वरूप में केन्द्रीभूत हो गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने भक्ति के आवेश में भगवान को ही स्वयं अपना भक्त बना लिया है। क्योंकि वह कहता है—

यदि पल भर मुझे निहार सको।
तुम अपने प्राणों की निधि
मेरे कण-कण पर वार सको!

वे सच्चे भक्त की भाँति शरीर से प्राण का महत्त्व अधिक समझते हैं। अतएव वे भगवान से प्रार्थना करते हैं—

प्राण अमर देखो मेरे,
यह नश्वर कारागार न देखो!

अथवा—

विजय मिलेगी इन प्राणों को
इस शरीर की हार में!

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुधीन्द्र जी संसार के कोलाहल-क्रन्दन

और निराशाओं से दूर हट कर अपने भगवान की भक्ति में लीन होकर मौलिक गीतों की रचना कर रहे हैं। आराध्य की अनुभूति और आनन्द की अभिलाषा से परे उनके गीतों में कुछ और खोजना व्यर्थ है। क्रान्ति-भ्रान्ति और अशान्ति के बीच समाज के किसी कोने में पड़े ऐसे भक्त-कवियों की पूत वाणी भी हमें यदा-कदा सुनाई दे जाती है। भक्ति के स्वरूप में वे भक्त-कालीन हैं परन्तु भावनाओं और व्यंजन शैली में एकदम नवीन।

इन चरणों की धूल मिले!
तो फिर जीवन में पग-पग पर
चाहे दारुण शूल मिले!
जग का फूल-फूल भी मग में
कंटक बन चुभता है पग में,
जग के अमृत का प्याला भी
फैलाता है विष रग-रग में;
जग की क्षमा मिले न तुम्हारी
ममता बनकर भूल मिले!
इन चरणों की धूल मिले!
तुम यदि विमुख रहो सुख भी दुख
सम्मुख रहो स्वयं दुख भी सुख
वैर-विरोध अनीति अकरुणा
तुमको छू होंगे प्रेमोन्मुख;
हिंसक भी तो साथ तुम्हारे
बनकर चिर अनुकूल मिले!
इन चरणों की धूल मिले!
नहीं चाहिए सुख या वैभव
तन मन में न सुखों का उत्सव,

एक तुम्हारी प्रेम-किरण पा
स्वर्ग बनेगा यह रौरव-भव
मंगलमय न मिले जीवन में !
पर मंगल का मूल मिले
इन चरणों की धूल मिले !

जीवन के इस सूनेपन में !
एक सांस का सम्बल देकर
छोड़ दिया एकाकी पथ में !
सुख सपनों की सुधि छिटकातीं
आतीं ये तारकमय रातें,
मैं हूँ लिये घटा प्राणों में
अपनी पलकों में बरसातें;
सुधि की बिजली तड़प तड़प कर
लौ-सी एक लगा जाती है,
इन्द्रधनुष सी फूल उठी क्यों
मन में आज मिलन की बातें ?
युग युग दुखद विराम बने हैं
विषय विरह की कथा अकथ में
जीवन के इस सूनेपन में !
जिस मरुथल में छाँह नहीं है,
पथ में वहाँ विराम कहाँ है ?
सरिता का सागर से पहले
और कहीं विश्राम कहाँ है ?
यह पथ भूला पथिक अतिथि बन
आज यहाँ कुछ पल ठहरा है,
परदेशी को एक पराया

आम भला निज धाम कहाँ है ?
पुर-तोरण से निकल पड़े तुम
अपने दिव्य प्रलय के रथ में !
जीवन के इस सूने पथ में !

क्या दूँ मैं उपहार में ?
किसको अपना गिनूँ आज मैं यात्रामय संसार में ?
यह साँसों का कोमल बन्धन,
तोड़ सकेगा कब यह तन-मन ?
लगी हुई यह आत्मा की निधि जीवन के व्यापार में !
मेरे शतदल की पंखड़ियाँ
क्यों झकझोर रही ये घड़ियाँ ?
बढ़ता रहे सतत जीवन की अमर चिरन्तन धार में !
यह कोलाहल कर न सके क्षय,
मेरे स्वरों की मधुमय लय;
हो जाये नीरव न मरण के गर्जनमय हुंकार में !
मैं संघर्ष-निरत हूँ निर्बल,
स्मरण तुम्हारा है बस सम्बल
विजय मिलेगी इन प्राणों को इस शरीर की हार में !

---

[२२]

श्री गोपाल सिंह नेपाली—हमारा साहित्य अपने नूतन स्वरूप में शीघ्रता से परिवर्तित हो रहा है। विगत और आगत के बीच उसमें नवीन प्रवृत्तियाँ चल निकली हैं। रहस्यवाद और छायावाद की पूजा के बदले उनकी समाधियों पर पुष्पों की अंजलियाँ अब भी चढ़ रही हैं। प्रगतिशील भावनाओं के पूत-अपूत चित्रों से काव्य विचलित है, मानव का नैतिक पतन मानव-

स्वभाव की उपेक्षा करता ज्ञात होता है। पर फिर भी दुःखी जनता का क्रन्दन कवि का लक्ष्य है। प्रगतिशील साहित्य की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मानस में नवीन भक्ति के भाव जागृत होने लगे हैं। यौवन, प्रेम और रूप-लोभ की उत्तेजित भावना काव्य को किसी दूसरी ओर ही ले जा रही है। फलस्वरूप कवियों ने कुछ प्रेम-गीतों की रचना में मन लगाना लक्ष्य कर लिया है, किन्तु इन गीतों को हम शुद्धतम प्रेम-गीत नहीं कह सकते क्योंकि गीत की मर्यादा के विपरीत उनका प्रभाव मनमें कुत्सित विचारों को जागृत करता हैं। इन सबसे ऊपर राष्ट्र की चिन्ता हमें व्यथित कर रही है। अतएव नवीनतम काव्य में हम इन ही सब प्रवृत्तियों को पाते हैं। श्री नेपाली जी अपने गीतों में प्रत्येक प्रवृत्ति के पोषक हैं। वे अपने गीतों में मौलिक हैं। अनुभव और अनुभूति उनके गीतों के प्राण ज्ञात होते हैं। उनकी अनुभूति जीवन के गहन, विस्तृत और भावमय स्वरूप की द्योतक है। उनके शुद्धतम गीतों में भाषा रसमयी है, कल्पना चित्रमयी है और अनुभूति आत्म-परक है। उनके गीतों की विविधता मनो-मोहक और लयकारी है।

छायावादी भावना में वे कितने स्पष्ट हैं और अनुभूति शील हैं। चिर-सुन्दर के स्वरूप का आभास उनकी आत्मा का ही गायन होकर थिरक रहा है—

मैं सरिता के कलकल स्वर में अपना ही गायन सुनता हूँ।

एक रूप है चन्द्रवदन में
एक रूप रवि के आनन में
अमित रूप रस गंध भरे जग
वन में वन के सुमन-सुमन में

अनगिन रूप धरे भृंगों का वन-वन में गुंजन सुनता हूँ।
उमड़ रहे श्यामल घन में मैं अन्तर का गर्जन सुनता हूँ।

भक्ति के स्वरूप में नेपाली जी प्रियमधुर हैं। उनकी सुकुमारता, आत्म-निवेदन मनुहार और भाषा की पूर्ण व्यंजकता गीतों को आदर्श के निकट पहुँचा देती है। वे भगवान के प्रति कितने करुणाशील हैं, विनयावनत हैं—

मुझको प्रकाश दे दो
अपने करुण नयन का
मुझको प्रकाश दे दो
मैं प्यार माँगता हूँ
मनुहार माँगता हूँ
बस दो युग हृदय का
संसार माँगता हूँ
अपने किशोर मनका
मुझको निवास दे दो!

और एक दूसरे गीत में आत्माभिव्यक्ति करते हुए अपने को पिछड़ा हुआ पाकर वे कितने चिन्तातुर ज्ञात होते हैं—

मध्याह्न प्रौढ़ बेला
मैं आज हूँ अकेला
सुख से अपार दुख से
खेले चला अकेला
प्रिय का असीम घेरा
मुझसे पिछड़ गया है।

प्रगतिशील गीतों में वे सम्वेदनशील हैं, सहानुभूति में सुधारवादी और जीवन के प्रति दार्शनिक। वे जग-जीवन से विकल होकर गाते हैं—

वह दरिद्र है वह नंगा है
इसी वजह से फ़र्क़ आ रहा,
जग-जीवन का भार वहनकर
भूखा-प्यासा चला जा रहा,
उसकी दुर्गति कुछ ऐसी है,
सिर्फ आह काफी न हमारी
दुख तो यह है उसका साथी
पड़ा चैन से गीत गा रहा।

और जीवन की नश्वरता में वे कितना सरल सत्य सामने रखते हैं—

प्राण निशिदिन झर रहे हैं।
दिन-ब-दिन जो मिट रहे हैं
वे इशारा कर रहे है।
आँसुओं सी उम्र-सी
दुनिया बराबर ढल रही है
भावना सी वायु-सी
दुनिया बराबर चल रही है
आदमी सी प्रेम सी
दुनियाँ बराबर ढल रही है
फूल पातों से हमारे
प्राण निशिदिन झर रहे हैं।

भारत माता के प्रति श्रद्धावनत होकर वे कितना मधुर राष्ट्रीय गीत गाते हैं—

पुण्य भूमि यह :
मातृ भूमि है
पितृ भूमि है
समर भूमि है
अमर भूमि है
जिसका कण-कण
जिसका क्षण-क्षण
जिसका जन-गण
जग को अर्पण
दृढ़व्रती सदा से नौनिहाल
भारत अखण्ड भारत विशाल।

और फिर राधा-कृष्ण के चिरन्तन स्वरूप को सजग कर देश के कुंजों में अमर प्यार लुटा देते हैं जिसके दिव्य गान में जीवन की साध रहस्य बनकर छिपी है—

सघन कुञ्जों की छवि अभिराम
छिपे तरु के पातों में श्याम
बांसुरी में राधा का नाम
नयन-पट पर राधिका ललाम।

नेपाली जी के प्रेम-गीतों में अशुद्ध भावों को स्थान नहीं। उनमें उत्तेजित प्रेम की ज्वाला नहीं, शीतल गम्भीर और भावमय प्रेम की धारा हैं। ऐसे गीतों में निम्नगीत बहुत सुन्दर है—

प्रिय तुम्हारी इन आँखों में
मेरा जीवन बोल रहा है।

नेपाली जी ने कुछ ऐसे शुद्ध-गीतों की भी रचना की है, जिनको हम स्वतंत्र कह सकते हैं—गीत के सच्चे-स्वाभाविक स्वरूप। उनमें किसी विशेष प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। वरन् वे मनोगत भावनाओं के स्वाभाविक प्रस्फुरण हैं। वास्तव में गीत की सच्ची अभिव्यक्ति ऐसे गीत ही करते हैं। ज़रा देखिये—

दीपक जलता रहा रात भर—
तन का दिया, प्राण की बाती, दीपक जलता रहा रात भर

....

सूरज को प्राची में उठकर पश्चिम ओर चला जाना है,
रजनी को हर रोज रात भर तारक दीप जला जाना है,
फूलों को शूलों में मिलकर जग का दिल बहला जाना है,
एक फूँक के लिए प्राण का
दीप मचलता रहा रात भर!

प्रिय, तुम्हारी इन आँखों में मेरा जीवन बोल रहा है।
बोलें मधुप फूल की बोली, बोले चांद समझ लें तारे
गा-गाकर मधु गीत प्रीति के, सिन्धु किसी के चरण पखारे
यह पापी भी क्यों न तुम्हारे मनमोहन मुख-चन्द्र निहारे

प्रिय तुम्हारी इन आँखों में मेरा जीवन बोल रहा है।
देखा मैंने, एक बूंद से ढका ज़रा आँखों का कोना
थी मन में कुछ पीर तुम्हारे, पर न कहीं कुछ रोना-धोना
मेरे लिए बहुत काफ़ी है, आँखों का यह डबडब होना,
साथ तुम्हारी एक बूंद के मेरा जीवन डोल रहा है।
कोई होगी और गगन में तारक-दीप जलाने वाली
कोई होगी और फूल में सुन्दर चित्र बनाने वाली
तुम न चाँदनी, तुम न अमावस, सखि, तुम तो ऊषा की लाली
यह दिल खोल तुम्हारा हँसना मेरा बन्धन खोल रहा है
प्रिय तुम्हारी इन आँखों में मेरा जीवन बोल रहा है।

मुझको प्रकाश दे दो
अपने करुण नयन का
मुझको प्रकाश दे दो
मैं प्यार माँगता हूँ
मनुहार माँगता हूँ
बस दो युवा हृदय का
संसार माँगता हूँ
अपने किशोर मन का
मुझको निवास दे दो।
मुझमें स्वरूप भी है
शृंगार-रूप भी है
मेरा हृदय अनूठा
जग में अनूप भी है
अपने नयन-सुमन का
मुझको सुवास दे दो।

आगे पृ० २४२ पर

दीपक जलता रहा रात भर—

तन का दिया, प्राण की बाती, दीपक जलता रहा रात भर।
दुख की घनी बनी अँधियारी, सुख के टिमटिम दूर सितारे
उठती रही पीर की बदली, मन के पंछी उड़-उड़ सारे,
बची रही प्रिय की आँखों से मेरी कुटिया एक किनारे,
मिलता रहा स्नेह-रस थोड़ा।

दीपक जलता रहा रात भर।

दुनिया देखी थी अनदेखी, नगर न जाना, डगर न जानी,
रंग न देखा, रूप न देखा, केवल बोली ही पहिचानी,
कोई भी तो साथ नहीं था, साथी था नयनों का पानी,
सूनी डगर, सितारे टिमटिम।

पन्थी चलता रहा रात भर।

अगणित तारों के प्रकाश में मैं अपने पथ पर चलता था,
मैंने देखा-गगन-गली में चाँद सितारों को छलता था,
आँधी में तूफ़ानों में भी प्राण-दीप मेरा जलता था,
कोई छली खेल में मेरी।

दिशा बदलता रहा रात भर।

मेरे प्राण मिलन के भूखे, ये आँखें दर्शन की प्यासी,
चलती रहीं घटायें काली, अम्बर में प्रिय की छाया-सी,
श्याम गगन से नयन जुड़ोय जगा रहा अन्तर का वासी,
काले मेघों के टुकड़ों से।

चाँद निकलता रहा रात भर।

छिपने नहीं दिया फूलों को, फूलों के उड़ते सुवास ने,
रहने नहीं दिया अनजाना शशि को शशि के मंद हास ने,
भरमाया जीवन को दर-दर, जीवन की ही मधुर आस ने,
मुझको मेरी आँखों का ही।

सपना छलता रहा रात भर।

होती रही रात भर चुपके आँख-मिचौनी शशि-बादल में,
लुकते-छिपते रहे सितारे अम्बर के उड़ते आंचल में,
बनती-मिटती रहीं लहरियां जीवन की यमुना के जल में,
मेरे मधुर मिलन का क्षण भी
पल-पल टलता रहा रात भर।
सूरज को प्राची में उठकर पश्चिम ओर चला जाना है,
रजनी को हर रोज़ रात भर तारक दीप जला जाना है,
फूलों को शूलों में मिलकर जग का दिल बहला जाना है,
एक फूँक के लिये प्राण का
दीप मचलता रहा रात भर।

मेरी इन आंखों की करुणा गंगा-यमुना-सी होती हो
यह अश्रु छिपा है आंखों में मेरे जीवन का मोती हो,

जब नभ के सघन किरण-कुंजों में नीला आँचल उड़ता है
तब सागर की चञ्चल लहरों में मेरा हृदय उमड़ता है
तब नयन नयन से जुड़ता है
मेरी जलधारा ज्वार बनी नभ-आंचल-छोर भिगोती हो

जब उषा उनींदी आंखों से उस प्राची की खिड़की खोले
तब जीवन-वन के कुंजों में यह प्राणों की कोकिल बोले
काली-काली छाया डोले
जैसे तारों की छाया में रजनी शृंगार संजोती हो

तुम गाओ जब मेरा गायक कवि क्षण-भर को चुप्पी साधे
तुम आओ जब तुमको मेरे इन नयनों का बन्धन बांधे
जब आना तुमको शोभा दे
तुम देखो जब मेरी आशा काग़ज़ की नाव डुबोती हो

मेरा प्रकाश उर-अम्बर का अहरह जलता ध्रुवतारा है
मेरा जीवन गतिमान सदा झर-झर, निर्झर की धारा है
जग केवल कूल-किनारा है
मेरी उमड़ी बरसात निठुर अन्तर का वाहन धोती हो
जीवन में मेरे प्राण विहँस कर नव-प्रभात की किरण बने
मेरी सन्ध्या के गान दूर से घर को आते चरण बने
जीवन झिलमिल अवरण बने
मेरी सुधि काली रात बनी नभ के तारों में रोती हो।

छाया घना अन्धेरा
रे दूर है सबेरा
आलोक खोजता है
इस बार पंथ मेरा
उन्मुक्त शशि-किरण का
मुझको सुहास दे दो।
तुम ज्यों अगाध सागर
तुम ज्यों अपार अम्बर
मैं त्यों तरंग चंचल
मैं त्यों विहंग सुन्दर
अपने उदधि मगन का
अपने विमल गगन का
मुझको विलास दे दो
मुझको हुलास दे दो।

---

[२३]

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'—यौवन मानव स्वभाव की दुर्बल-ताओं और हीनताओं का दर्पण है, क्योंकि यौवन में एक ओर संघर्ष

की कसौटी पर उसकी उन्मुक्त शक्तियों की परख होती है और दूसरी ओर उन्माद भरी आशाओं-अभिलाषाओं की आँख-मिचौनी। अपने उन्माद में, यौवन के तूफ़ान में, जीवन के प्रेम में वह अपना भावी आडम्बर खड़ा करता है। उसके आँगन में विद्रोह की ज्वाला भी है, प्रेम की मनोमोहक वाटिका भी है, त्याग का वरदान भी है और बलिदान की वेदी भी है। युवक अपने जाग्रत-जीवन के अहंकार से इन्हें प्राप्त करने का दावा करता है किन्तु विषमताओं के थपेड़े उसकी गति को रोक देते हैं तब वह द्वन्द्व में पड़ जाता है। बस यहीं से मानव की कहानी आरम्भ होती है। ऐसी ही कहानियों के चित्र हमें अंचल जी के काव्य में मिलते हैं। वे तरुणाई उसके उन्माद और संघर्ष के कवि हैं। किन्तु उनकी तरुणाई में जीवन का संघर्ष कम है, प्रेम के झोंको के स्निग्ध स्पर्शन अधिक। तरुण-हृदय की प्रेम-तरंगों की बीच वे उत्तेजित ज्ञात होते हैं। उनके गीतों में उत्तेजित प्रेम की वही अभिव्यक्ति हुई है जो हम आज तरुण समाज की मनचली प्रवृत्तियों में पाते हैं। प्रेम की शीतल, गम्भीर और चिरन्तन धारा के मन्द प्रवाह में वे कुण्ठित हो जाते हैं। युवक और युवती के मनोगत भावों के प्रकाशन के प्रति वे सच्चे हैं। उनमें प्रेम की विह्वल तरंगे भी हैं, प्रगति की प्रेरणा भी है, जीवन के सुख-दुःख की यथार्थ अभिव्यक्ति भी है। उनकी प्रेम-तरंगों में रूप की आसक्ति है, आँखों का लोभ है, उत्तेजित-प्रेम की ज्वाला है। यद्यपि प्रेयसि के रूप का सित आवरण वे शीतल समझते हैं किन्तु वह उनके शीतल मानस में वासना की ज्वाला उद्वेलित कर देने वाला है—खलबली का बवण्डर मचा देने वाला है—

ठहर जाओ, घड़ी भर और
तुमको देखलें आँखें,
तुम्हारे रूपका सित आवरण
कितना मुझे शीतल,
तुम्हारे कंठ की मधु बंसरी
जल - धार सी चंचल,

तुम्हारी चितवनों की छाँह
मेरी आत्मा उज्ज्वल,
उलझती फड़फड़ाती प्राण-
पंछी की तरुण पाँखें।

रूप के सित आवरण को देख कर ही आँखें तृप्त हो जाती हैं। रूप की वास्तविक सत्ता तक उनकी दृष्टि पहुँचने में असमर्थ है। अतएव ऐसा ज्ञात होता है कि वे नेत्र-प्रेम के ही उपासक हैं। कवि की ऐसी भावनाओं पर निश्चित ही पाश्चात्य विचार-धारा का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि हमारे समाज में भी वह जगह कर गया है। प्रेम की अभिव्यक्ति गीतों का प्राण है। किन्तु आज का कवि उसकी भावना के प्रति विद्रोह लेकर आया है। भक्त गायक रसखान चाहता है कि आगामी जन्मों में कृष्ण-मण्डल से बाहर जन्म न लें। वहीं की गाय, वृक्ष, पक्षी, जो भी कुछ बने वहीं के बने। पर आज कवि प्रेयसि के प्रति कहता है—

होठों पर निर्माल्य अछूता बनकर मैं छा जाता
अंगों के चम्पई रेशमी परदों में सो जाता
आँखों की सुरमई गुलाबी चितवन में खो जाता

और फिर उसके स्वरूप की कितनी वासनामय कल्पना करता है—

किन्तु नारी, सिर्फ़ नारी
हो तुम्हें मैं जानता हूँ;
तुम प्रणय की हो खेलाड़िन
मैं तुम्हें पहचानता हूँ।

वास्तव में कवि यौवन के उन्माद में 'फागुनी शब के नशे' के झोंके में नारी को नारी से परे समझ ही नहीं पाता। पर जब उसका यह नशा उतरता है तो वह उसकी शक्ति के प्रति सजग होता है। विनयावनत होकर वह मनुहार करता है—

इतनी बात न मानोगी ?
साथिन ! सौन्दर्य साधना तज कब जन ज्वाला पहचानोगी

पर पीड़न और विषमता में तिलतिल कर जनता का जलना
नंगे अभाव के मरुपथ में पशु सा जीवन व्यापी चलना

....

इस महा क्रान्ति को तुम अपनी पथ ज्योति नहीं क्या मानोगी ?

आज कवि मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर जाता ज्ञात होता है। गीति-काव्य में बहिष्कृत राधाकृष्ण को अश्लील और वासनामय अभिव्यक्ति को आज के कवि ने संसार में बिखरे यौवन-दम्पति की वासनामय अभिव्यक्ति बना दिया है।

प्रगति की प्रेरणा में कवि जन-जीवन के तारतम्य के प्रति संवेदना की अभिव्यक्ति करता है। वह समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करना चाहता है, परन्तु अकेला नहीं। उन्हें अपनी प्रेम-पात्री की चाह वरदान स्वरूप है—

आज जीवन औ मरण के
बीच की तुम सेतु बनकर;
दो मुझे तूफ़ान अगले
झेलने का शौर्य्य जयकर।
रागिनी सी कामिनी तुम
क्रान्ति के नव-स्वर निकालो;
छोड़कर जादूगरी
संघर्ष के यह दिन निकालो।
देखकर तुमको बिछौने
की गुलाबी सुधि न आये;
युद्ध में बढ़ते चलें
छाती फुला मस्तक उठाये।
रूप बिम्बित हो इन्हीं
संग्राम-लपटों में तुम्हारा;
मृत्यु की झांई न निष्प्रभ
कर सके तब मधु तुम्हारा !

संयोग शृङ्गार और वीर रस की यह सन्धि कवि के प्रेम-गीतों की मौलिकता है। वह उससे बारबार अनुरोध करता है—

अब मेरे साथ चली आओ
पथ की बाधाओं से न डरो सहमो न तनिक तुम घबराओ

....

अवकाश कहाँ हम सोच सकें यह सब—हमको आगे बढ़ना
अज्ञात लक्ष्य की दूरी है—हमको नूतन जीवन गढ़ना
मेरे प्रेरक आह्वानों की तुम ज्योति शिखा बन लहराओ।
आओ युग की प्रतिहिंसा बनकर मेरे साथ चली आओ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंचल जी यौवन के क्षण-भंगुर उन्माद की अभिव्यक्ति में सत्यपरक हैं। पल-पल में उठने वाले उरमान भरे भावों के वे स्पष्ट चित्रकार हैं। इसके अतिरिक्त उनके कुछ गीत कल्पना की उड़ान में प्रकृति और जीवन का अनुपम सामंजस्य करते हैं। ये गीत भावना में सुकुमार संगीत में मधुर और जीवन की सत्यता के द्योतक हैं।

फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया
जगमगाता था उषा सा कंटकों में वह सुमन
स्पर्श से उसके तरंगित था सुरभि वाही पवन
ले कपूरी पँखुरियों में फुल्ल मधुऋतु का सपन
फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।
प्रखर रवि का ताप झंझा के असह झोंके कठिन
कर न पाये उस तरुण संघर्ष कामी को मलिन
किन्तु झाड़ी से अलग हो रह न पाया एक दिन
फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।

जो अडिग रहता अड़ा तूफ़ान में बरसात में
टूट जाता है वही तारा शरद की रात में
मुक्त जीवन की प्रगति भी द्वन्द्व में संघात में
फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया ।

बन्द कलिका से भ्रमर निकला
पँखुरियाँ काँपतीं !
प्रात होते नव किरण के घात होते
स्वप्न से जब जागते जलजात होते
तुहिन से मधु-लुब्ध श्यामल पंख धोते
अलि पुलक संचार-सा निकला
पँखुरियाँ काँपती ।
भीरू ज्यों प्रिय गमन से सीमन्तनी
रात होते मुँद गई थी कमलिनी
बद्ध ज्यों पत्रांक में लघु चाँदनी
अलि तड़ित के तारा-सा निकला
पँखुरियाँ काँपतीं ।
स्तब्ध सरि तट पवन तरु तृण
स्तब्ध विहगी विहग उन्मन
स्तब्ध उज्ज्वल सृष्टि चेतन
मधुप वीणा की कलित झंकार सा निकला
पँखुरियाँ काँपतीं ।

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो ।
प्रेम की मधु झील के तट पर मिले हम आज फिर,

उग रहे आकाश को भरते हुए तारक शिशिर,
आज ओ मधु वर्षिणी! आये दृगों में स्वप्न थिर।
चाँदनी में आज केवल
लग रही कटि की तुम्हारी किंकिणी पयधार-सी,
कङ्कणों से उठ रही सित मन्त्रिता झनकार-सी,
कनक बेसर के नगों की ज्योति पारावार-सी।
चाँदनी में आज केवल
हैं चमकते सङ्गमरमर से तुम्हारे अङ्ग खुल
हों गुँथे ज्यों कुन्तलों में मोतियाँ, मोती, मुकुल,
है तुम्हारे रूप का साम्राज्य यह अम्बर विपुल।
चाँदनी में आज केवल
बँध रहा सौन्दर्य चितवन में तुम्हारी छवि प्रखर,
आज तुम जो भी कहो संगीत-सा होगा मधुर,
सृष्टि-स्थिर घनसार का उज्ज्वल-चँदोवा तानकर
चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

सुनो जब तक सुनाऊँ मैं
तुम्हें उस रूप की बातें
लजीली है बड़ी वह किन्तु है लावण्य की रानी
गुँथी अल्हड़पने के मोतियों से मंजरी धानी
झमकती दामिनी सी मुक्त उसकी ज्योति का पानी
तिरा करती जहाँ आकाश गंगा सी हँसी मानी
कपूरी रसवती दो अँखड़ियों की सुरमई घातें।
सुवासित गात है कौमार्य्य के मधुसिक्त परिमल से
तरंगित अंग हैं निर्माल्य के बहते हुए जल से

उमड़ता स्रोत शैशव का धुला उच्छ्वास चंचल से
जवानी चूम लेती है चपल मुख जब कभी छल से
चमक उठतीं गुलाबी चाँदनी में ज्यों कुमुद पातें ।
लगी सित भाल पर हैं कुंकुमी बेंदी सरलता की
अरुण अब हो चली दोनों अधर पर रेख शुचिता की
खिली मकरन्द सेंदुर गात में छवि रस प्रवणता की
किरण सी फूटती तन में सशंकित मुग्ध कृषता की
चपल मधुप सरीखे झूमते दृग स्वप्न में माते ।
उसे जो देख लेता है सदा को स्मृति सुखद पाता
यही सौन्दर्य का वरदान जिसके गीत जग गाता
मधुरिमा औ, तरुणिमा का अमर हो यह नया नाता
सहमता सिहरता सा जो समय पथ पर चला जाता
जिसे कर याद कवि की स्निग्ध हो जाती कठिन रातें ।